हिमालय

साहित्यिक पुस्तक-माला

४

सम्पादक

शिवपूजन सहाय :: रामवृक्ष बेनीपुरी

पुस्तक-भंडार

हिमालय प्रेस, पटना

अक्षयतृतीया, संवत् २००३

'हिमालय'-पुस्तकमाला के ग्राहकों और पाठकों को आवश्यक सूचना

'हिमालय' की एक प्रति का मूल्य एक रुपया और साल-भर के स्थायी ग्राहकों के लिए १०) है। रेलवे-स्टेशनों के ह्वीलर-बुकस्टाल पर भी 'हिमालय' मिलता है। प्रमुख नगरों में भी एजेंट हैं। 'पोस्टिङ्ग सर्टिफिकेट' के अन्दर हर महीने ठीक जाँचकर 'हिमालय' भेजा जाता है। कृपया अपने डाकघर को सावधान कर दें। अंक न मिलने पर हम दूसरी प्रति देने में सर्वथा असमर्थ हैं। जो ग्राहक रजिस्ट्री-खर्च (प्रति अंक ।-)।) जमा कर देंगे उनका अंक बराबर रजिस्टर्ड भेजा जायगा।—प्र०

•

१ देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद—आत्मकथा ... १
२ श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री—पण्डितराज : एक अध्ययन (निबंध) १७
३ प्रोफेसर केसरी, एम० ए०—गाँव से लौटा हुआ (कविता)... ३१
४ श्रीनन्दकिशोर तिवारी—तीन गद्यगीत ... ३३
५ श्रीराजेश्वरप्रसादनारायण सिंह—फूल और बुलबुल (कविता) ३५
६ प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा—विष के दाँत (कहानी) ... ३६
७ प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र—सौन्दर्यबोध एवं कामप्रवृत्ति (निबंध) ४१
८ श्रीआरसीप्रसाद सिंह—गीत ४७
९ पोद्दार रामावतार 'अरुण'—तुम आग-फूल दोनों पर प्रेम लुटानेवाले हो ४७
१० श्रीराधाकृष्ण प्रसाद, बी० ए० (ऑनर्स)— चिराग के नीचे (कहानी) ४८
११ प्रिन्सिपल मनोरञ्जन—दो गीत ... ५३
१२ श्रीरामचन्द्र वर्मा—भाषा-संस्कार ... ५४
१३ डॉक्टर सत्यनारायण—हिमालय की देन (निबंध) ६१
१४ श्रीपारसनाथ सिंह, बी० ए०— खाँ साहब (शब्दचित्र) ... ६७
१५ श्रीस्वामी भवानीदयाल संन्यासी—दक्षिण अफ्रिका में हिन्दीप्रचार (संस्मरण ७३
१६ डॉक्टर देवराज, एम० ए०, डी० फिल्०— नारी (कविता) ८२
१७ श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री—'काव्यालोक' (आलोचना) ८२
१८ हमारी साहित्यिक प्रगति—सम्पादकीय टिप्पणियाँ ... ८५

•

मुद्रक—श्रीजयनाथ मिश्र, हिमालय प्रेस, पटना ; मई १९४६ ई०
[श्रीरघुवरसिंह [illegible] (मधुबनी, दरभंगा) द्वारा पुस्तकभंडार के लिए प्रकाशित]

देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद

आत्मकथा

समुद्रयात्रा-सम्बन्धी आन्दोलन

जब मैं एफ० ए० की परीक्षा देकर सन् १९०४ की गर्मी की छुट्टियों में जीरादेई आया था, भाई भी घर पर ही थे। परीक्षा-फल की प्रतीक्षा थी। अखबारों में हमलोगों ने देखा कि विदेश से शिक्षा पाकर डाक्टर गणेशप्रसाद वापस आ रहे हैं। वह बलिया के, जो हमारे जिले से लगा हुआ है, रहनेवाले थे। उनका नानिहाल छपरे में था। जाति के वह भी कायस्थ थे। इलाहाबाद से डी० एस-सी० की उपाधि पाकर वह इंगलैंड पढ़ने के लिए गये और वहाँ से फिर जर्मनी गये। गणित-शास्त्र में उन्होंने बड़ा नाम किया था और देश में पहुँचने के पहले से ही एक आन्दोलन उठ खड़ा हो गया था कि उनको जाति में ले लेना चाहिए। छपरे में दो दल हो गये थे। सुधारक दल के नेता बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद थे, जो अभी नये उठते हुए वकील थे और विरोधी दल के नेता दो सबसे प्रतिष्ठित और नामी बूढ़े वकील थे। ब्रजकिशोर बाबू हमारे घर पर आये। भाई से सलाह करके उन्होंने बाबूजी से कहा कि डाक्टर गणेश को जाति में ले लेना चाहिए और उनके यहाँ जो बिरादरी का भोज हो उसमें बाबूजी को चलना चाहिए। उस समय तक बिहार भर में केवल मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ही विलायत से लौटे कायस्थ थे। उनके लौटे ग्यारह-बारह बरस बीत चुके थे। उनके लौटने के समय भी कुछ आन्दोलन हुआ था, पर उन्होंने प्रायश्चित्त करके फिर पुराने तरीके से जाति के बन्धन को मानना स्वीकार नहीं किया था। इसलिए बाजाब्ता वह जाति में नहीं लिये गये थे। डाक्टर गणेशप्रसाद से, पहुँचने के पहले ही लिखापढ़ी करके, तय हो चुका था कि वह जाति-बन्धन को मानेंगे। उन्होंने विदेश में भी बहुत सादा जीवन बिताया था और कभी मांस-मछली-मद्य का व्यवहार नहीं किया था। उनका और सुधारकों का विचार था कि इस तरह से ही उस समय समुद्र-यात्रा का रास्ता खुल सकेगा। मिस्टर सिन्हा के लौटने के बाद दस बरसों तक किसी की हिम्मत उस बन्धन को तोड़कर विदेश जाने की नहीं हुई थी। इसलिए अब इस शर्त को मानकर भी रास्ता खोलना चाहिए। बाबू ब्रजकिशोर ने कुछ लोगों को तैयार किया था कि डाक्टर गणेश के घर चलकर भोज में शरीक होना चाहिए। बाबूजी से उन्होंने बहुत आग्रह किया कि वह भी चलें। बाबूजी ने खुद तो जाना मंजूर नहीं किया, मगर यह कह दिया कि हम दोनों भाइयों को भेज देंगे।

डाक्टर गणेश लौटे। बलिया में भोज का दिन मुकर्रर हुआ और बाहर से बाबू ब्रजकिशोर की प्रेरणा से हम २०—२१ आदमी छपरे से बलिया गये। इनमें दो भाई हम और हमारे दोनों साथी जमुना भाई और गंगा भाई भी थे और गाँव के पटवारी भी थे। डाक्टर गणेश से भेंट हुई। बलिया के कायस्थों में बड़ी हलचल थी। मैं लिख चुका हूँ कि हमलोगों का घर पहले बलिया में ही था। वहाँ हमारे गोतिया लोग रहते थे। हमारे ब्राह्मण-पुरोहित आज तक बलिया से ही शादी और श्राद्ध में आया करते हैं। मेरी ससुराल के लोग भी बलिया में रहते थे। उस घर के कई आदमी वहाँ वकालत करते थे और दूसरे कामों में थे। हमलोगों के पहुँचने की खबर वहाँ फैल गयी। इसको छिपाना भी तो मंजूर नहीं था। हमारे गोतिया भी वकील थे। वह रिश्ते में हमलोगों के भाई लगते थे। उन्होंने हमलोगों से भेंट की और हमलोगों का उस भोज में शरीक होना पसन्द नहीं किया। उनका खयाल था कि हमलोग बाबूजी की आज्ञा के बिना ही चुपचाप चले आये हैं। जब हमलोगों ने विश्वास दिलाया कि ऐसी बात नहीं है तो उनको और भी दुख हुआ और उन्होंने कहा कि चचा साहब को हमसे पूछ लेना चाहिए था जब हम सब यहीं रहते हैं। इसी प्रकार मेरी ससुराल के लोगों को भी यह बात बहुत पसन्द नहीं थी; पर उनकी ओर से कुछ अधिक जोर नहीं डाला गया। रात को भोजन हुआ और भात खाकर हम सब अपने स्थान के लिए वापस हुए। डाक्टर गणेश पहले इलाहाबाद में और फिर हिन्दू-युनिवर्सिटी में और कलकत्ता-युनिवर्सिटी में गणित-विभाग के सर्वोच्च स्थान पर रहकर कई बरसों के बाद गुजर गये। हमलोगों से उस पहली मुलाकात को वह कभी भूले नहीं और मुझसे बहुत प्रेम रखते रहे।

बलिया से लौटकर मैं अपनी दूसरी बहन के घर, जो छपरे से कुछ दूर पर ब्याही थी, बाहर ही बाहर चला गया। वहाँ जाने का कोई खास विचार नहीं था। पहले से ही उसकी इच्छा थी कि मैं आऊँ और दो-चार दिन उसके साथ रहूँ और छपरे से ही जाने में सुविधा थी। इसलिए घर वापस न जाकर वहाँ चला गया। जिन लोगों ने भोज में शिरकत की थी उनके नाम अखबारों में छपे और छपरे में बड़ा हल्ला हुआ। वहाँ तैयारियाँ होने लगीं कि वे लोग जातिच्युत कर दिये जायँ। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री की समुद्र-यात्रा के विरुद्ध व्यवस्था मँगायी गयी और जिला-भर के कायस्थों की एक बड़ी सभा करने का आयोजन होने लगा। मुझे यह कुछ भी खबर नहीं थी। मैं तो उस गाँव में बहन के साथ था। इसी बीच में परीक्षा-फल भी निकल गया। बाबू ब्रजकिशोर ने गजट देखकर जीरादेई खबर दे दी। भाई को बात मालूम हो गयी और बाबूजी को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने तुरंत सत्यनारायण की कथा सुनी और ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी-भोज का प्रबन्ध

कराया। यह सब मेरी गैरहाजिरी में ही हुआ। मैं अपने बहनोई के घर से जीरादेई के लिए रवाना होकर छपरे पहुँचा। बहनोई भी साथ छपरे आये। उनको छपरे में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था उसकी खबर ही नहीं थी। हमलोग रात को छपरे पहुँचे थे और वहाँ पहुँचकर सो गये थे। इसलिए उस रात को कुछ पता नहीं मिला और न मेरे परीक्षा-फल की ही खबर मिली। खूब सुबेरे रेल जाती थी, जिससे हम जीरादेई जा सकते थे। सबेरे ही मैं स्टेशन पर पहुँच गया। बाबू ब्रजकिशोर का डेरा स्टेशन के नजदीक ही था। मैंने नौकर को भेजा कि जाकर पूछ आओ—परीक्षा-फल अभी निकला कि नहीं। उन्होंने खबर दिलवाई कि परीक्षा-फल निकल चुका है और मुझको उनसे मुलाकात किये बिना उस गाड़ी से नहीं जाना चाहिए। मैं उनके डेरे पर गया, क्योंकि परीक्षा-फल जानने की उत्सुकता थी। वहाँ उन्होंने रोक लिया। कचहरी सबेरे सात बजे से हुआ करती थी। उनके साथ मैं भी कचहरी गया। इसकी खबर मेरे बहनोई को नहीं मिली कि मैं वहाँ रुक गया हूँ। मैं जब बाबू ब्रजकिशोर के साथ बार-लाइब्रेरी में पहुँचा तो बहुतेरे वकीलों ने मुझे घेर लिया। कुछ तो परीक्षाफल से खुश होकर बधाई देने लगे और कुछ डाक्टर गणेश के भोज का हाल पूछने लगे और यह जानना चाहते थे कि कौन-कौन शरीक थे और मैं कहाँ से आया हूँ। मैंने सब बातें कह दीं और यह भी कह दिया कि कई दिनों से मैं 'पैगा' में अपने बहनोई के साथ था और वहाँ से ही लौटा हूँ। मुझे इसका पता नहीं था कि मैंने जो इस तरह सच्ची बातें बता दीं उसका कुछ बुरा परिणाम होनेवाला है। बात यह थी कि कुछ लोगों ने, जो भोज में शरीक थे, आन्दोलन को देख सहमकर, अपने घरवालों के जोर देने से, शरीक होना इनकार कर दिया था और अखबार में छपी खबर को गलत बता दिया था। मेरे बहनोई से भी, ज्यों ही वह बार-लाइब्रेरी में पहुँचे, सवाल हुए। उनको यह मालूम नहीं था कि मैं डाक्टर गणेश के भोज में शरीक हुआ था। उनको यह भी नहीं मालूम था कि मैं जीरादेई न जाकर वहाँ रुक गया था और उसी लाइब्रेरी में कहीं औरों से बातें कर रहा था। बड़े प्रतिष्ठित वकीलों की बात सुनकर वह भी कुछ सहम गये और उन्होंने मेरी ओर से इनकार कर दिया और कह दिया कि मैं अगर गया होता तो उनको जरूर मालूम हो गया होता। तब लोगों ने उनसे कहा कि मैं वहीं हूँ और मैंने खुद कहा है और नौबत आई कि मुकाबला कराया जाय। मैं वहाँ से बाबू ब्रजकिशोर के डेरे पर चला गया और ट्रेन से जीरादेई चला आया। जब मैं वहाँ पहुँचा तो मैंने सुना, एक दिन पहले पूजा वगैरह होकर ब्राह्मण-भोजन भी हो चुका है और बिरादरी का भोज भी हो चुका है जिसमें केवल गाँव के ही नहीं, बल्कि आसपास के गाँवों के कायस्थ भी जो बराबर बिरादरी-भोज में शरीक हुआ करते थे, शरीक हो चुके थे। गाँव में तो कोई दिक्कत थी ही नहीं, क्योंकि हम तीन घर ही थे और तीनों घरों के

लोगों ने बलिया के भोज में शिरकत की थी। मैंने छपरे का हाल भाई से कहा और बाबू ब्रजकिशोर का सन्देश भी कहा कि छपरे में होनेवाली सभा में अपने मत वाले लोगों को पहुँचाना चाहिए और उस सभा में समुद्र-यात्रा के पक्ष में प्रस्ताव भी पास कराना चाहिए।

छपरे में सभा की बड़ी तैयारियाँ हुईं। सारे जिले के कायस्थ बुलाये गये। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री व्यवस्था देने आये। साथ ही इस बात की कोशिश होने लगी कि उनलोगों से, जिन्होंने भोज में खाया था, या तो इनकार कराया जाय या प्रायश्चित्त कराया जाय। हमलोग सभा के दिन छपरे नहीं गये। पर सुना कि बहुत कायस्थ जमा हुए। जिला दो भागों में बँट गया था। पूरब छपरा दोनों विरोधी बड़े वकील साहबों के साथ में था, और पच्छिम छपरा का—जहाँ के हमलोग रहनेवाले थे—यह दावा था कि हम पक्ष में हैं। बात यह है कि अधिक बिरादरी के लोग विरोधी थे। कुछ थोड़े लोग जो पक्ष में थे, अधिकांश पच्छिम छपरा के थे जिनमें हमारा घर प्रतिष्ठित समझा जाता था। छपरे में, पंचमंदिर में, जो एक कायस्थ का ही बनवाया हुआ सबसे बड़ा और सुन्दर मन्दिर उस शहर में है, सभा हुई। वयोवृद्ध और प्रसिद्ध वकील साहब सभापति होनेवाले थे। जब लोग पहुँचे तो हमारे दल के एक आदमी ने उठकर प्रस्ताव कर दिया कि सभापति बाबू सरस्वतीप्रसाद वकील बनाये जायँ। यह सज्जन भोज में शरीक हो चुके थे, पश्चिम छपरा के रहनेवाले थे; पर गोरखपुर में वकालत किया करते थे। कुछ लोगों ने प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। जिन्होंने सभा बुलायी थी, कुछ भौंचक में पड़ गये। उन्होंने तो बड़े वकील साहब का नाम सभापति होने के लिए नोटिस में छाप दिया था। सुधारक दल के जो लोग मौजूद थे उन्होंने शोर किया कि बाबू सरस्वतीप्रसाद सभापति बनाये जायँ। दूसरे लोगों को इस विरोध की आशा नहीं थी। वह समझते थे कि सब लोग उनके ही साथ हैं। वास्तविक अधिकांश क्या, बहुमत जोरों से उस सभा में भी उनके साथ था। पर वह बहुत कुछ डर गये। इधर से जोर होने लगा कि सभापति के चुनाव के बारे में मत लिया जाय। इससे वह और भी घबराये। उन्होंने मत लेने से इनकार कर दिया और कहा कि जिनका नाम प्रकाशित कर दिया गया है वही सभापति होंगे। वह सभापति के स्थान पर बैठने के लिए चले। इधर से बाबू सरस्वतीप्रसाद भी चले और उन्होंने कहा—वकील साहब, सभा ने तो मेरा नाम सभापति के लिए प्रस्तावित किया है, मैं सभापति हूँ, आप कैसे वहाँ बैठ सकते हैं। इससे और घबराहट फैली। उन्होंने कह दिया कि यह लोग सभा नहीं होने देंगे, इसलिए सभा बर्खास्त की जाती है। सुधारक दल तुरंत उठ खड़ा हुआ और खुशियाँ मनाता और यह घोषित करता हुआ कि उसकी जीत हो गयी वहाँ से चल पड़ा। उनको तो यही कराना था, क्योंकि वह जानते थे कि

सचमुच अगर मत लिया जाता तो वह जरूर हार जाते। उस दिन की सभा बर्खास्त हुई। दूसरे दिन फिर सभा की गयी और वहाँ प्रस्ताव पास किया गया कि जितने लोगों ने भोज खाया था वे जातिच्युत किये गये। उनके साथ खान-पान, शादी-विवाह सब बन्द कर दिया गया और उनके नाम भी प्रस्ताव में दे दिये गये और उसको छपवाकर जिला-भर में बाँटने का प्रबन्ध किया गया। सुधारकों की ओर से कहा गया कि यह सभा तो पूरी बिरादरी की थी नहीं और सुधारकों के चले जाने के बाद दूसरे दिन की गयी थी। इसलिए इस प्रस्ताव को वह नहीं मानते और जिला-भर की बिरादरी उसे स्वीकार नहीं करती। अगर वह (सब) लोग सचमुच इस प्रस्ताव को मानते हैं तो फिर सभा करके जिला-भर की बिरादरी बुलायी जाय और प्रस्ताव पास कराया जाय। इस प्रकार की गड़बड़ी मच गयी और अखबारों में दोनों पक्षों के बयान भी शायद निकले। फलतः जाति-बहिष्कार बहुत बलवान नहीं हो सका।

जहाँ तक हमलोगों का सरोकार था जाति-बहिष्कार का कोई प्रश्न उठा ही नहीं क्योंकि हमारे आसपास के सब लोग हमारे साथ खाते-पीते रहे और ब्राह्मण-पुरोहित ने कभी कोई दिक्कत न होने दी। हाँ, बाबूजी को एक बार कुछ दुख हुआ। मैं कह चुका हूँ कि हमारे बहनोई छपरे के नजदीक के रहनेवाले थे। वहाँ पर इसका कुछ जोर रहा और छपरे के लोगों ने उन पर बहुत जोर डाला और एक मरतबा एक बहुत बुरा पत्र बाबूजी के पास उनसे लिखवाया। एक आदमी पत्र लेकर आया। हमलोगों से मुलाकात हुई। उसने कहा कि वह एक पत्र ले आया है जिसको बाबूजी को ही देने का हुक्म है और वह हमलोगों को नहीं दे सकता है। हमलोग समझ गये कि उस पत्र में कुछ इसी सम्बन्ध की बातें होंगी। बाबूजी ने पत्र पढ़ा, और कुछ सहम गये। हमारे वहाँ एक बहनोई जीते थे। दूसरी बहन तो बहुत पहले ही विधवा हो चुकी थीं। इनके भी कोई सन्तान नहीं थी और यह अपने घर में अकेला थे। न कोई दूसरा भाई न सगा-सम्बन्धी। जो कुछ सम्बन्ध था हमलोगों के साथ ही था। इन्होंने पत्र में लिखा था कि इनका कोई दूसरा सम्बन्धी तो था ही नहीं, अब हमलोगों से भी सम्बन्ध टूट जायगा! अगर हम सम्बन्ध कायम रखना चाहते हैं तो या तो भोज में शरीक होना इनकार करके घोषणा कर दें या प्रायश्चित्त कर दें। बाबूजी घबराये, पर उनका यह विचार नहीं हुआ कि हमलोगों ने कोई गलती की है। उन्होंने इतना ही कहा कि हमलोग अगर खुद भोज में शरीक होकर इस झगड़े में न पड़े होते तो वह शायद दूसरों पर असर डालकर इस काम में अधिक मदद कर सकते। माँ ने जब खबर सुनी कि ऐसा पत्र आया है तो उन्होंने साफ-साफ कहा कि इनकार की बात तो हो ही नहीं सकती है। वह तो बिलकुल झूठी बात होगी और ऐसा करने से भला नहीं होगा। हाँ, प्रायश्चित्त की बात होगी तो समय आने पर देखा जायगा।

इसी मजमून का उत्तर भेज दिया गया। उन दिनों मेरी बहन के आने की भी कोई बात नहीं थी, इसलिए यह बात आगे नहीं बढ़ी। बाबूजी छपरे गये। एक मुकदमा चल रहा था। उसमें हमारे वकील वही वयोवृद्ध वकील थे जो इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने बहुत जोर दिया कि प्रायश्चित्त करा दें। बाबूजी ने यह कहकर बात टाल दी कि हमलोग कलकत्ते में हैं जैब आवेंगे तो सलाह करेंगे।

उन लोगों ने इस तरह जहाँ तक हो सका परोक्ष रीति से जोर डाला। सार्वजनिक सभा करने का प्रयत्न भी किया। सीवान में, जो हमलोगों के नजदीक का शहर है, एक सभा की गयी जिसमें छपरे की सभा के निश्चय को घोषित करना था। एक सज्जन छपरे से भेजे गये कि सीवान के जिन लोगों ने भोज खाया था उनके जाति-बहिष्कार का फैसला बाजाब्ता सभा में सुना दें। इस सभा में हमलोग भी गये। परन्तु सीवान की बिरादरी में बहुत लोग हमलोगों के साथ थे क्योंकि बाबू ब्रजकिशोर, बाबू सरस्वतीप्रसाद और हमलोग सब इसी सबडिवीजन के रहने वाले थे। उस सभा में हमलोगों ने प्रस्ताव कर दिया कि छपरे की सभा को हमलोग नहीं मानते। सीवान की बिरादरी हमलोगों के साथ है।

हमारे गाँव के दो आदमी जमुनाप्रसाद और गंगाप्रसाद जो हमलोगों के साथ बलिया भोज में शरीक हुए थे छपरे में पढ़ते थे। वे लोग कुछ और लड़कों के साथ एक मकान में रहते थे। उनको कुछ कष्ट उठाना पड़ा। उस 'मेस' के लड़के उनका छुआ जल नहीं लेते और उनके साथ खान-पान भी नहीं करते। ब्राह्मण रसोई बनाकर उनके बर्त्तन में अलग से भोजन दे देता। उन्होंने इस अपमान को खुशी-खुशी बर्दाश्त किया और कुछ महीनों तक यही सिलसिला चला। पर आहिस्ता-आहिस्ता जोर कम पड़ गया और सब एक साथ हो गये। छपरे में विरोधियों के मुखिया लोगों का भी सम्बन्ध ऐसे घरों में हो गया जो समुद्रयात्रा के पक्ष में थे और उनके अपने घर के भी कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये। उन लोगों ने अपने जीवन में तो इस बात को निबाह दिया, पर बंधन जो टूटा वह फिर नहीं जुटा और समुद्रयात्रा के लिए कायस्थों का रास्ता खुल गया।

छात्र-सम्मेलन और कांग्रेस

बी० ए० पास करके मैं एम० ए० और बी० एल० के लिए कलकत्ते में पढ़ने लगा। स्वदेशी आन्दोलन उन दिनों बहुत जोरों से चल रहा था। हम कुछ बिहारी छात्रों पर भी जो कलकत्ते में पढ़ते थे उसका असर पड़ता ही था। हमलोग बिहारी क्लब में अक्सर बैठते और मिलते और विचार-विनिमय किया करते। हमलोगों के दिल में जोश आया कि बंगाल के विद्यार्थी इस प्रकार स्वदेशी का प्रचार कर रहे हैं, अगर हमारे बिहार में भी कोई छात्रों का संगठन होता तो उसके द्वारा स्वदेशी का

प्रचार हो सकता। हमने एक गीत भी बनवाया जिसकी कुछ प्रतियाँ छपवाकर जहाँ-तहाँ बँटवायीं। इसी के बँटवाने में संगठन का अभाव और भी मालूम हुआ। हमलोगों ने सोचा कि बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन किया जाय। बिहारी क्लब के सामने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा गया और उसे केवल छात्रों ने ही नहीं वरन् बड़ों ने भी बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। मैं पटने भेजा गया। वहाँ पहले छात्रों से और फिर बड़े लोगों से मैं मिला जिनमें मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा और (स्वर्गीय) बाबू महेशनारायण जो उन दिनों 'बिहार-टाइम्स' का सम्पादन करते थे प्रमुख थे। इन सब लोगों ने इससे सहानुभूति दिखलाई। निश्चय हुआ कि पटने में ही पहला सम्मेलन किया जाय और मिस्टर शर्फुद्दीन जो एक नामी बैरिस्टर थे सभापति बनाये जायँ। पटने के छात्रों ने एक स्वागत-समिति बना ली और सब प्रबन्ध भी किया। पहला सम्मेलन पटना-कालेज के बड़े हाल में हुआ। बिहार के सभी कालेजों और अनेक स्कूलों के छात्र उस सम्मेलन में आये और बड़े उत्साह के साथ शरीक हुए। सम्मेलन के उद्देश्य बतलाने का भार मेरे ऊपर दिया गया और मैंने एक लम्बा भाषण लिख कर तैयार किया था जो अँगरेजी में था, उसे पढ़ सुनाया। औरों के भाषण भी अक्सर अँगरेजी में ही हुए। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि पहले उन शहरों में जहाँ कालेज है और फिर जहाँ-जहाँ स्कूल हैं छात्र-समितियाँ कायम की जायँ और सब सम्मेलन से सम्बद्ध रहें। एक बड़ी नियमावली तैयार की गयी जिसके अनुसार एक स्थायी समिति सारे बिहार के छात्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप पटने में रहेगी। इसमें सभी जगहों के छात्रों के प्रतिनिधि होंगे। वही सब छात्र-समितियों पर नियंत्रण रखेगी और सम्मेलन का काम साल-भर जारी रखेगी। मुझे याद है कि नियम बनने के समय दो प्रश्नों पर आपस में बहुत बहस हुई। एक प्रश्न यह था कि यह सम्मेलन राजनीति में भाग लेगा या नहीं। इसमें बहुत मतभेद छात्रों में ही था। बड़े सभी इसके विरोधी थे। अन्त में यह तय हो गया कि सम्मेलन किसी प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, चाहे वह राष्ट्रवादी हो अथवा राजभक्तिप्रचारक या और किसी प्रकार का (Nationalist, Loyalist or any other)। हमने यह निश्चय करके, अब मालूम होता है, बुद्धिमानी दिखलाई। बिहार कभी बंगाल का ही हिस्सा था। सूबा अलग नहीं हुआ था। बिहार शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन तो प्रायः नहीं के बराबर था। विशेषकर छात्र तो बाहर का कुछ जानते ही नहीं थे। कांग्रेस के पक्षपाती थोड़े ही लोग थे। अभी तक बिहार का कोई राजनीतिक संगठन भी अलग नहीं था, न बिहार की अलग कांग्रेस-कमिटी थी और न बिहार-राजनीतिक-सम्मेलन (Bihar Provincial Congress) की स्थापना हुई थी। यह पहला ही संगठन था जिसमें सारे बिहार के लोग, चाहे वह नवयवस्क छात्र ही क्यों

न हों, अलग एकत्र होकर अपने प्रश्नों पर विचार करने बैठे थे। ऐसी अवस्था में अगर हम सँभलकर नहीं चलते तो शायद यह संगठन होने ही नहीं पाता। उस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी दूसरा छात्र-सम्मेलन नहीं हुआ था और हमलोगों को एक प्रकार से एक नया संगठन, जिसका कोई नमूना सामने नहीं था, बनाना था। और दूसरा प्रश्न, जिसपर मतभेद था, यह था कि इस सम्मेलन में केवल बिहारी छात्रों का ही संगठन रहे या इसमें बंगाली छात्र भी शामिल किये जायँ। इस संबन्ध में भी बहुत मतभेद रहा और मुझे याद है कि कई बरसों तक वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव आता रहा कि बिहारी छात्र-सम्मेलन में बंगाली भी लिये जायँ, पर वह स्वीकार नहीं हुआ। सम्मेलन का नाम तो शुरू से ही था बिहारी छात्र-सम्मेलन। कई बरसों के बाद नियमावली में जोड़ दिया गया कि बिहारी छात्र से बिहार में शिक्षा पानेवाले सभी छात्र समझे जायँ। हम जो कलकत्ते के विद्यार्थी थे, शुरू से ही इसके पक्ष में थे; पर दूसरे इसका विरोध करते थे।

छात्रों का संगठन बहुत अच्छा हो गया। प्रायः सभी शहरों में इसकी शाखाएँ हो गयीं। कलकत्ते में तो बिहारी-क्लब इसकी शाखा बन ही गया, हिन्दू-युनिवर्सिटी की स्थापना के बाद वहाँ के बिहारी छात्रों ने भी एक शाखा बना ली। सभी शाखाओं में प्रायः प्रति सप्ताह सभा होती जिसमें छात्र विविध विषयों पर लेख पढ़ते, भाषण करते, खेल-कूद में भाग लेते और इसके लिए जहाँ-तहाँ अपने-अपने क्लब कायम किये गये। सालाना जलसे में निबन्धों और भाषणों की प्रतियोगिता होती और सबसे अच्छे लेखों और भाषणों के लिए इनाम दिये जाते। इसी प्रकार खेल-कूद के लिए भी इनाम दिये जाते। कालेज के लड़कों की अलग प्रतियोगिता होती, स्कूल के छात्रों की अलग, लड़कियों की भी भिन्न प्रतियोगिता होती। उनको लेख और भाषण के अलावा सीना-पिरोना इत्यादि के प्रोत्साहन के लिए अलग इनाम दिये जाते। इस प्रकार साल-भर काम चलता और सम्मेलन दशहरे की हरेक छुट्टी में कहीं न कहीं बिहार के किसी शहर में होता। इस सालाना सम्मेलन के सभापति-पद को बिहार और बाहर के बहुत बड़े-बड़े लोगों ने सुशोभित किया है। जैसे बिहार के मिस्टर शर्फुद्दीन, मिस्टर हसन इमाम, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, बाबू परमेश्वर लाल, बाबू दीपनारायण सिंह, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद प्रभृति और बाहर के लोगों में श्रीमती एनीबेसेण्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, महात्मा गांधी, मिस्टर एण्डरूज प्रभृति।

यह सम्मेलन १९०६ में कायम हुआ और प्रति वर्ष अपना सालाना जलसा १९२० तक, जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ, करता रहा। उसके बाद यह कुछ शिथिल पड़ गया; क्योंकि इसके सभी उत्साही काम करनेवाले उस महान आन्दोलन में लग गये। फिर भी इसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न किये गये हैं। पर इनमें वह पुराना

जीवन और तेज फिर नहीं आ सका। अब जो संगठन है वह एक प्रकार से नया संगठन है जिसके कार्यकर्त्ता शायद संगठन का हाल जानते भी न होंगे। जितने दिनों तक यह काम करता रहा, बड़े उत्साह और लगन के साथ सारे सूबे के छात्र इसमें शरीक होते रहे। इसीके द्वारा छात्रों ने संगठन को क्रियात्मक रूप से सीखा। यहाँ ही बहुतों ने भाषण करना सीखा और उन पन्द्रह बरसों में जितने भी जानदार और उत्साही युवक बिहार में हुए, सब इससे ही अनुप्राणित हुए, और सबने अपने निजी स्वार्थ के अलावा कुछ बाहर देश-विदेश की बातें सीखीं और उनके लिए कुछ थोड़ा-बहुत त्याग की प्रवृत्ति भी पाई। जो कुछ उन्होंने सीखा या पाया उससे देश को लाभ भी पहुँचा। जब महात्मा गांधी बिहार में आये, इस छात्र-सम्मेलन के भूतपूर्व कार्यकर्त्ता उनके साथ हुए और असहयोग-आन्दोलन में जितने आगे बढ़े, इसीके उत्पादित फल थे। आज प्रायः वही लोग सूबे के नेतृत्व का भार वहन कर रहे हैं, जिन्होंने छात्र-सम्मेलन में ही दीक्षा पाई थी। असहयोग-आन्दोलन ने छात्रों से बहुत बड़े त्याग की माँग की। छात्र-सम्मेलन इसके लिए तैयार नहीं था। प्रस्ताव तो पास हो गया, पर थोड़े ही छात्र अन्त तक उस आन्दोलन में ठहर सके। जो ठहरे वह अधिकतर सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ता थे। जो दूसरे वकील-वर्ग में से आये उनमें भी अधिक सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ताओं में से थे। १९२० तक अपना काम इस प्रकार से पूरा करके सम्मेलन मरता-जीता जीवन बिताने लगा। इसने एक प्रकार से अपना काम पूरा कर दिया था। नई जागृति, नया जीवन सारे सूबे में पैदा कर दिया था और भविष्य के लिए खेत तैयार करके बीज भी बो दिया था, जिसका फल असहयोग-आन्दोलन को मिला और आज तक सूबे को मिल रहा है।

१९०६ के दिसम्बर में कांग्रेस कलकत्ते में होनेवाली थी। मैं कांग्रेस की खबर तो कुछ पहले से ही पढ़ा करता था, पर अभीतक कांग्रेस देखने का सौभाग्य और सुअवसर मुझे नहीं मिला था। जब १९०५ के दिसम्बर में कांग्रेस बनारस में हुई, मैं बी० ए० परीक्षा के फेर में था और वहाँ नजदीक होने पर भी नहीं जा सका था। १९०६ की कांग्रेस में पहलेपहल स्वयंसेवक (वालंटियर) की हैसियत से शरीक हुआ। कांग्रेस का अधिवेशन बड़े जोश का हुआ। गरमदल और नरमदल का आविर्भाव हो चुका था। गरमदल के नेता समझे जाते थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द घोष प्रभृति। नरमदल के नेता थे सर फिरोजशाह मेहता, गोखले प्रभृति। जहाँ तक मैं समझ सकता था, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय बीच का स्थान रखते थे। आपस के झगड़े को मिटाने या कम करने के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से बुलाकर सभापति बनाये गये थे। सौभाग्य से मुझे कांग्रेस-पंडाल की ड्यूटी मिली थी। इसलिए मैं विषयनिर्धा-

रिग्गी समिति में सब बहसें सुन सका था। कांग्रेस-पंडाल में अधिवेशन के समय पहले दिन में कुछ दूर पर रखा गया था, जिससे सभापति का भाषण नहीं सुन सका। मैंने देखा कि अधिकांश स्वयंसेवक अपने स्थान को छोड़कर भीतर चले गये। मैंने ऐसा करना उचित नहीं समझा और अपने नियुक्त स्थान पर ही डटा रहा। सरोजिनी देवी, मालवीय जी और मिस्टर जिन्ना के भाषण पहलेपहल इसी कांग्रेस में सुने। कांग्रेस के साथ प्रदर्शनी भी बहुत जबरदस्त हुई थी। अधिवेशन देख करके कांग्रेस के बारे में श्रद्धा अधिक बढ़ गयी, पर अभी कई बरसों तक मुझे इसमें बाजाब्ता शरीक होने का अवसर नहीं मिला। यह अवसर पहलेपहल १९११ में, जब कांग्रेस फिर कलकत्ते में हुई, मिला। उसी समय से आजतक मैं अखिलभारतीय कांग्रेसकमिटी का मेम्बर रहा हूँ और थोड़ा बहुत कांग्रेस का काम करता आया हूँ। उन दिनों कांग्रेस का संगठन कुछ ढीला ही था। बिहार में तो बहुत थोड़े ही लोग इससे सम्बन्ध रखते थे और वह भी अधिक वकील लोग ही हुआ करते थे। एक प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी १९०७ या १९०८ में ही अलग बन गयी थी, जो बंगाल को प्रान्तीय कमिटी से जुदा थी। सूबा तो १९१२ में अलग हुआ। पर यह प्रान्तीय कमिटी कुछ बहुत नियमित रूप से नहीं बनती थी। जो प्रतिनिधि होते थे वे भी कोई नियमित रूप से चुने नहीं जाते थे। एक सभा होती थी जिसमें कुछ लोग चुन लिये जाते थे। वे अधिवेशन में पहुँचते तो ठीक, अगर नहीं पहुँचते तो जो लोग पहुँच जाते उनको ही मंत्री प्रतिनिधि मान लेते और उनके नाम से प्रमाणपत्र दे देते! इस तरह से बिहार कभी खाली नहीं जाता। हर साल कुछ लोग अधिवेशन में शरीक जरूर हो जाते। जो प्रतिनिधि जाते वही उन दिनों के नियमानुकूल अ० भा० कां० कमिटी के मेम्बर चुन लेते। मैं १९११ में अ० भा० कां० कमिटी का मेम्बर इसी तरह से चुना गया; कांग्रेस की कोई खास सेवा नहीं की थी। उसी साल मैं पहलेपहल प्रतिनिधि बना था। पर छात्र-सम्मेलन के कारण और युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में अच्छा फल होने के कारण बिहार के सभी लोग मुझे जानते थे और सबने एक छलाँग में ही मुझे अ० भा० कां० कमिटी में पहुँचा दिया। यह सब बातें १९२० के बाद बहुत कुछ बदल गयीं। पर इसका जिक्र पीछे आवेगा।

विदेश-यात्रा का निष्फल प्रयत्न

डॉन सोसाइटी और स्वदेशी आन्दोलन का असर मेरे ऊपर यह पड़ा था कि किसी तरह देश के लिए कुछ करना चाहिए। भाई के साथ का भी असर कुछ वैसा ही पड़ता रहा था। पर अभीतक यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि यह इच्छा किस प्रकार पूरी होगी और न यह साफ था कि कौन-सी सेवा की जाय और इसके लिए क्या करना चाहिए। यह प्रश्न मन में कभी-कभी उठा करता और फिर इधर-उधर

की झंझटों में विलीन हो जाती। छात्र-सम्मेलन का संगठन एक रास्ता मिला था, पर यह भी स्थायी होगा या उसमें भी परिवर्तन आ जायगा, कुछ समझता न था और न कह सकता था। हाँ, एक बात जो में आ गयी थी, वह यह थी—सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए। इसलिए बी० ए० पास करने के बाद डिपटी-मजिस्ट्रेटी के लिए दर्खास्त नहीं दी। भाई भी नहीं चाहते थे कि यह मैं करूँ। बाबूजी की इच्छा थी कि मैं वकालत करूँ। भाई दुर्भाग्यवश एम० ए० नहीं पास कर सके। घर से अधिक खर्च लाकर कलकत्ते में या और कहीं अब रहना नहीं चाहते थे। वह डुमराँव-राज-स्कूल में शिक्षक का काम करने लगे। मैं कलकत्ते में डिपटीगरी का खयाल छोड़कर एम० ए० बी० एल० के लिए पढ़ने लगा था।

छात्र सम्मेलन हो जाने के बाद मुझ पर यह एक धुन सवार हो गयी। यह नहीं कह सकता कि यह विचार कैसे उठा और किसके प्रोत्साहन से; पर यह खयाल हुआ कि अब किसी प्रकार से विलायत जाना चाहिए और वहाँ आइ० सी० एस० की परीक्षा पास करनी चाहिए। सरकारी नौकरी की इच्छा नहीं थी, तो भी न मालूम मन को कैसे सन्तोष हो गया कि यह करने योग्य है। इसमें भाई ने भी प्रोत्साहन दिया। घर से इतने रुपये मिल नहीं सकते कि विलायत का खर्च जुट सके, इसलिए कोई दूसरा ही प्रबन्ध होना चाहिए। मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ने जब यह सुना कि मेरी ऐसी इच्छा है तो खुश हुए और बाबू ब्रजकिशोर तो इसके लिए हमेशा तैयार ही रहते थे। डॉक्टर गणेश के भोज के बाद बाबू अम्बिकाचरण को उन्होंने जापान जाने में बहुत प्रोत्साहन दिया था। मेरे लिए विलायत जाना उन्होंने एक प्रकार से अनिवार्य्य समझा और लग गये रुपये जुटाने की धुन में। मुंशी ईश्वरशरण भी इसमें दिलचस्पी लेने लगे। आरा के रायबहादुर हरिहरप्रसाद ने कुछ रुपये दिये और सोचा गया कि मेरे चले जाने के बाद और रुपये किसी प्रकार से भाई इन लोगों की मदद से अथवा घर से किसी प्रकार भिजवाते रहेंगे। इस बात का डर हमलोगों को था कि बाबू जी और माँ इस बात को पसन्द नहीं करेंगी और घर में बहुत वावेला मचेगा। मैं इस सिलसिले में पटने और इलाहाबाद भी गया। भाई भी साथ में थे। बाबू जी से यह बात गुप्त रखी गयी क्योंकि उनकी आज्ञा मिलने की कोई आशा नहीं थी। हमने जाने के लिए दिन भी मुकर्रर कर लिया। कलकत्ते में कपड़े भी बनवा लिये। मैंने उन दिनों तक अँगरेजी किते का कोई कपड़ा कभी पहना नहीं था। पर विलायत में दूसरे कपड़े तो पहने नहीं जा सकते, यही धारणा थी। इसलिए अँगरेजी किते के कपड़े एक अँगरेजी दूकान में ही बनवाये गये। यही एक अवसर था जब मैंने विदेशी कपड़े १६०८ के बाद से आज तक खरीदे हैं। पासपोर्ट के लिए दर्खास्त दी गयी और कार्रवाई हो रही थी और हमलोग समझते थे कि यह बात पूरी हो जायगी,

जाने के पहले बाबू जी को खबर नहीं मिलेगी और घर की ओर से कोई बाधा नहीं आवेगी। इस षड्यंत्र में कालेज के साथियों में से तीन-चार और थे, जिनमें एक बिहारी मेरे मित्र शुकदेवप्रसाद वर्मा थे और बंगाली लोग थे। मेरे अपने लोगों में भाई, बाबू ब्रजकिशोर, मिस्टर सिन्हा, मुंशी ईश्वरशरण और रायबहादुर हरिहरप्रसादसिंह थे।

भाई और बाबू ब्रजकिशोर के साथ मैं इलाहाबाद गया और मुंशी ईश्वरशरण के साथ ठहरा। वहाँ मेरी ससुराल के लड़के कालेज में पढ़ रहे थे। उनमें किसी से मुलाकात तो नहीं हुई, पर उनको किसी न किसी तरह खबर लग गयी और वे खोजते-ढूँढ़ते मुंशी ईश्वरशरण के यहाँ पहुँच गये। वहाँ पर लोगों ने कह दिया कि मैं नहीं हूँ। उन्होंने घर पर तार दे दिया कि मैं छुपकर विदेश जा रहा हूँ और उस दिन प्रयाग में हूँ! तार पाते ही बाबूजी और घर के सब लोग बहुत घबराये। बाबूजी अस्वस्थ थे, इसलिए वह नहीं निकल सकते थे, पर मेरी माँ और बहन सीधे इलाहाबाद चली गयीं। उनलोगों की यह गलत धारणा थी कि मैं इलाहाबाद से ही चला जाने वाला था। मैं तो अभी सलाह-बात और रुपयों के जुगाड़ में गया था। वहाँ एक दिन रहकर वहाँ से सीधे फिर कलकत्ते चला आया था। जब माँ पहुँची तो मैं वहाँ नहीं था। मुंशी ईश्वरशरण के यहाँ तलाश करने पर उनको खबर मिल गयी, मैं कलकत्ते वापस चला गया। मुझे कलकत्ते में इन बातों की खबर नहीं थी। वहाँ तार पहुँचा कि बाबूजी बीमार हैं। मैं वहाँ से उनसे मिलने आया तो सब बातें मालूम हो गयीं। वह सचमुच बीमार थे, पर अभी बीमारी कुछ कड़ी नहीं थी, दुःखित जरूर थे। घर में रोना-पीटना पड़ गया था। भाई भी आये। बाबूजी उनसे बहुत रंज थे कि हमको विदेश भेजने का वह षड्यंत्र कर रहे थे। मेरे पहुँचते ही सबकी करुणा उमड़ पड़ी और खूब जोरों से रोआ-रोहट मच गयी। मुझे उन्होंने साफ-साफ जाने से मना कर दिया और कह दिया कि अगर मैं गया तो वे नहीं बचेंगे। मैंने सब बातें जो हुई थीं, साफ साफ कह दीं और वादा कर दिया कि नहीं जाऊँगा। जब उनको मेरी बात पर विश्वास हो गया तब फिर कलकत्ते जाने की इजाजत दी।

कलकत्ते में, जब सब तैयारियाँ एक प्रकार से हो गयी थीं, एक छोटी घटना घटी जिसका उल्लेख करना अच्छा होगा। इस विलायत-यात्रा के जनून में हमारे वे सब साथी शरीक थे जिनको यह खबर मालूम थी। सबकी इच्छा थी कि वे भी जाँय, पर उनका सुयोग अभी जुटा नहीं था और हम सब सोचते थे कि मेरे जाने के बाद वे भी किसी न किसी उपाय से कुछ दिनों बाद वहाँ पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। एक दिन लॉ कालेज से निकलने पर एक साथी ने राय दी कि चलो एक ज्योतिषी से इस विषय में परामर्श कर लें। वह एक ज्योतिषी को जानता भी था। वहाँ हमलोग चले गये। वह एक बूढ़े ब्राह्मण, जिनकी अवस्था प्रायः ६० बरस की होगी, अपने घर में बैठे थे, हमलोगों

के जाते ही थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा, मैं समझ गया, तुमलोग किस काम के लिए आये हो। तब हममें से किसी ने प्रश्न पूछना शुरू किया। प्रश्न तो एक ही था—विलायत-यात्रा सफल होगी? प्रश्न हमने कहा नहीं, अपने मन में ही रखा। मुझको उन्होंने उत्तर दिया कि अभी नहीं, बहुत दिनों के बाद इच्छा पूरी होगी। शुकदेव को उन्होंने उत्तर दिया, तुम्हारी इच्छा अभी बहुत जल्दी पूरी होगी। तीसरे भाई से कहा कि तुम्हारी इच्छा भी कुछ देर के बाद पूरी होगी और चौथे साथी से कहा कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं होगी। हमलोगों ने एक रुपया दिया और प्रणाम करके वापस चले और रास्ता भर इसी का मजाक उड़ाते आये कि यह बिलकुल कुछ जानता नहीं। मेरी तो सब तैयारी हो चुकी है और मैं नहीं जाऊँगा, और शुकदेव जिनके सम्बन्ध में अभी कोई बात नहीं हुई है, बहुत जल्द चन्द दिनों के अन्दर ही चले जायँगे—यह कैसे हो सकता है। हमलोग हँसते-हँसते मजाक उड़ाते वापस आये। उसके बाद ही घर से तार आ गया और मेरा जाना एकबारगी रुक गया। जब मैं घर से वापस आया और यह बात तय हो गयी कि मैं नहीं जाऊँगा तब शुकदेव के जाने की बात उठी और मेरे कपड़े और मेरे रुपये लेकर वह एक दिन चले ही गये! कपड़े और रुपये इतने गुप्त तरीके से होस्टल में रखे गये थे कि हमलोगों के किसी साथी को इसकी खबर तक नहीं थी। शुकदेव के बारे में भी डर था कि उनके पिताजी भी कहीं इसी तरह रोक दें। इसलिए वह भी गुप्त रखा गया। उनको कहीं जाना नहीं था, किसी से मिलना नहीं था। इसलिए उनकी बात एकबारगी गुप्त रही। जाने के दिन साथियों से कह दिया कि घर जा रहे हैं। हम दो-तीन साथी स्टेशन पर गये और उन्हें रेल पर चढ़ाकर बम्बई के लिए रवाना कर दिया। जबतक बम्बई से जहाज रवाना हो जाने की खबर नहीं आई तबतक हमलोगों के दिल में शक बना ही रहा कि शायद वह भी कहीं पकड़कर वापस न बुला लिये जायँ। पर जहाज खुल जाने के बाद ही उनके घर के लोगों को खबर मिली। यहाँ तक कि कलकत्ते में निकट सम्बन्धी लोगों को भी जिनसे बहुत घनिष्ठता थी पता नहीं चला।

विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति

शुकदेव को रवाना करके मैं तो कांग्रेस की वालंटियरी में बझ गया और कांग्रेस के बाद फिर पढ़ने में लग गया। बाबूजी की बीमारी बढ़ती गयी और कुछ दिनों में उनकी हालत खराब होने लगी। खबर मिलने पर मैं कलकत्ते से और भाई डुमराँव से जीरादेई पहुँचे। कुछ दिनों में वह जाते रहे। जाने के पहले हम सबसे भेंट हो गयी। उस वक्त तक भाई के दो लड़कियां और एक लड़का जनार्दन के जन्म हो चुके थे। मेरे भी मृत्युञ्जय का जन्म उसी साल में हुआ था। पोता देखकर वह बहुत सन्तुष्ट रहते थे और जब बीमारी बढ़ गयी तब सबको इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया।

बाबूजी की मृत्यु से घर में गड़बड़ी तो मची, हम सब दुखी हुए ; पर मुझे एक बात की खुशी भी रही। वह यह कि अच्छा ही हुआ, मैं विलायत नहीं गया। अगर गया होता और उनकी इस प्रकार मृत्यु हो जाती तो मैं न मालूम कितना दुखी होता। मैं फिर कलकत्ते चला गया। भाई डुमराँव चले गये। घर का इन्तजाम तो भाई कुछ पहले से ही देखा करते थे। अब सारा भार उन पर ही आ गया और वह डुमराँव से आकर जब-तब घर देख जाया करते। मेरे लिए खर्च वगैरह का भी इन्तजाम वही करते। उनको पढ़ने के समय जबतब खर्चे के लिए कुछ कष्ट भी उठाना पड़ा। घर से रुपये जाने में देर हो जाया करती। पर मुझे उन्होंने बाबूजी के रहने के समय और उनकी मृत्यु के बाद कभी भी खर्च की चिन्ता में नहीं पड़ने दिया। उनकी अभिलाषा थी कि जब मैं पढ़ने में तेज हूँ और सब परीक्षाएँ इस प्रकार सफलता-पूर्वक पास करता हूँ तो मुझे केवल पढ़ने में ही मन लगाने का पूरा मौका देना चाहिए और किसी तरह की दूसरी चिन्ता नहीं होने देनी चाहिए। छात्रवृत्ति मुझे बराबर काफी मिलती गयी। उसको बाबूजी या भाई खर्चे में कभी नहीं जोड़ते थे और खर्चे के रुपये तो हमेशा अलग से ही भेजते रहे। उन रुपयों में से मैं कालेज की फीस दिया करता और बाकी रुपये किताब खरीदने में ही लगता। बी० ए० पास करने पर दो छात्रवृत्तियाँ मिलीं, एक ५०) मासिक की जो हर महीने मिला करती। यह तो मैं खर्च करता गया। दूसरी ४०) मासिक की जिसकी शर्त थी कि एम० ए० पास करने पर एक साथ जोड़कर मिलेगी। यह एम० ए० पास करने के बाद एक साथ ४८०) जब मिले तो विलायत-यात्रा के जनून में जो कुछ कर्ज कर लिया था उसको अदा करने में लगा दिया।

पहले कह चुका हूँ कि परीक्षा की ओर से कुछ उदासीनता-सी एफ० ए० पास करने के बाद ही हो गयी। बी० ए० में न मालूम कैसे फिर अौवल हो गया। एम० ए० के समय यह उदासीनता और भी बढ़ गयी और इस बरस में विलायत-यात्रा के जनून और बाबूजी की मृत्यु के कारण समय दूसरे कामों में लगा और मन भी विचलित रहा। बाबूजी की मृत्यु १९०७ के फरवरी या मार्च में हुई। परीक्षा अगले नवम्बर या दिसम्बर में होनेवाली थी। गर्मी की छुट्टियों में कुछ दिनों के लिए मैं साथियों के साथ खरसान (करसियांग Kurseong) चला गया और वहाँ ही परीक्षा के लिए तैयारी की। एम० ए० की परीक्षा में मेरा स्थान अौवल नहीं हुआ। मेरे ऊपर कई साथी आ गये। मुझे इसका कुछ अफसोस नहीं रहा ; क्योंकि मैंने कोई आशा भी नहीं की थी और न कोई विशेष प्रयत्न ही किया था। इसके बाद प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय। परीक्षा देकर मैं भाई के पास डुमराँव चला गया और कुछ दिनों तक वहाँ ही रहा। सोचता रहा कि वकालत की परीक्षा में [illegible] या नहीं। [illegible] जी

नहीं जाता था और यह भी महसूस होने लगा कि मैं वह काम भी नहीं कर सकूँगा। कुछ अपनी शक्ति में अविश्वास-सा हो गया था, सरकारी नौकरी न करने की तो पहले ही ठान ली थी। इसी बीच में एक मित्र बाबू बैद्यनाथ नारायण सिंह ने लिखा कि मैं मुजफ्फरपुर-कालेज में प्रोफेसर हो जाऊँ तो बहुत अच्छा होगा। वह उस कालेज में प्रोफेसरी कर रहे थे। उनके कहने से मैंने दर्खास्त भेज दी और मेरी नियुक्ति हो गयी। मैं १९०८ की जुलाई में कालेज खुलने पर वहाँ चला गया। उस काम में जी भी लगता था। वहाँ के लोगों से जान-पहचान भी हो गयी। पर भाई इससे सन्तुष्ट नहीं थे। आहिस्ता-आहिस्ता कालेज की आर्थिक स्थिति भी खराब होती जाती थी। अन्त में निश्चय हुआ कि मैं फिर वकालत की तैयारी करूँ। कालेज की पढ़ाई तो मैंने खतम कर ली थी, पर परीक्षा नहीं दी थी। भाई की राय हुई कि मैं फिर कलकत्ते जाऊँ और वहाँ परीक्षा देकर वकालत शुरू करूँ।

इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन समाप्त हुआ और संसार में प्रविष्ट होने का समय आ गया। जब उन दिनों का स्मरण आता है तो मालूम होता है मानों वह सुख का युग था। कभी-कभी अफसोस होता है तो इसीका कि उसका जितना अच्छा उपयोग हो सकता था नहीं किया गया। मुझे इस बात की सुविधा तो मिली थी कि भाई पथप्रदर्शक रहे। जितने अच्छे विचार या अच्छी प्रवृत्तियाँ दिल में उठीं, सबके बीज उन्होंने ही बोये थे। पढ़ने के समय किसी प्रकार का कष्ट मैं अनुभव न करूँ, इसका प्रबन्ध वह बराबर करते रहते और कभी भी उन्होंने यह नहीं महसूस करने दिया कि घर में कोई आर्थिक कठिनाई है। कलकत्ते में और उसके पहले छपरे में साथियों के साथ मेरा बराबर प्रेम रहा। जहाँतक मुझे स्मरण है, किसी के साथ कभी किसी प्रकार की खटपट तक नहीं हुई, झगड़े का तो कोई सवाल ही नहीं है; बल्कि सबके साथ प्रेम का ही व्यवहार रहा और थोड़े लोगों से तो बड़ी घनिष्ठता हो गयी जो बराबर कायम रही। यद्यपि पढ़ने में स्पर्धा और प्रतियोगिता काफी रही, तथापि कभी किसी ने मेरे साथ न तो चालाकी की या न धूर्तता ही की और न कभी किसी के साथ अन्यमनस्कता हुई। एक दूसरे को हम बराबर जहाँ कहीं कोई दिक्कत या कठिनाई होती मदद करते, बल्कि जो मेरे प्रतिस्पर्धी साथी थे उनके साथ मिल करके परीक्षा की तैयारी की गयी। जब मैं एफ० ए० की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था तो वह मित्र (जिसे मेरे साथ एण्ट्रेन्स में दूसरा स्थान मिला था) और मैं दोनों एक साथ परीक्षा की तैयारी करते रहे। इसी प्रकार और परीक्षाओं में भी सब मिलजुलकर पढ़ते रहे। कलकत्ते जाना और इडेन-हिन्दू-होस्टल का जीवन मेरे लिए बहुत लाभदायक हुआ। कलकत्ते जाने से ही आँखें खुलीं। यह सोचना बेकार है कि अगर नहीं गया होता तो क्या होता। पर मेरा विश्वास है कि अन्यत्र कहीं मुझे इतना लाभ नहीं

पहुँचता। इडेन-हिन्दू-होस्टल में रहने से बंगाली साथियों में हिलमिल जाने का जैसा सुअवसर मिला वैसा शायद दूसरी जगह कहीं रहने से नहीं मिलता। बंगाली साथियों की स्मृति अत्यन्त सुखकर है। मुझे किसी के भी खिलाफ कोई भावना हुई ही नहीं और न उनमें से किसी ने मेरे साथ कभी भी बुरा बर्ताव किया। कभी किसी ने कटु शब्द भी नहीं कहे। मैं मानता हूँ कि उनके साथ में जो दिन बीते वे अत्यन्त सुखद और लाभप्रद हुए। उनके साथ रहते-रहते बिना प्रयास के ही मैंने बँगला बोलना सीख लिया। आज भी मेरे बहुतेरे मित्र सारे बंगाल में भरे पड़े हैं। बहुत दिनों के बाद जब मैं असहयोग के दिनों में बंगाल में दौरा करने गया तो जहाँ जाता वहीं कुछ पुराने जाने-पहचाने मित्र मिल जाते और पुरानी स्मृतियाँ जाग उठतीं। बहुत दिनों के बाद जब मैं कांग्रेस-प्रेसिडेंट हुआ और फिर जब बिहार में १९३८--३९ में बंगाली-बिहारी-प्रश्न उठा और उसके बाद कांग्रेस में मुझे कुछ ऐसे काम करने पड़े जो बंगाल के कुछ लोगों को नापसन्द आये तो मेरे ऊपर बहुत बौछार हुई। कटु लेख लिखे गये। गालीगलौज भी काफी मात्रा में हुई। पर मैं अभी तक यह नहीं महसूस करता हूँ कि उनके साथ मेरा कोई द्वेष है या कभी भी उनके प्रति किसी दूसरे प्रकार की भावना दिल में भी उठी हो। यह हो भी कैसे सकता है? इतने दिनों का सुन्दर सुहावना साथ, प्रेम का आदान-प्रदान, पुरानी सुखकर स्मृतियाँ, क्या यह सब मनुष्य भूल सकता है? कर्तव्य के वश अगर कभी किसी के साथ कोई ऐसा काम भी करना पड़ा जो उसको पसन्द न हुआ तो मैं अपने दिल से जब पूछता हूँ, हमेशा यही उत्तर मिलता है कि मैंने कभी किसी का अनिष्ट, जान-बूझकर अनिष्ट करने की नीयत से, नहीं किया। जो हो, यह सब बातें तो भूल जायँगी, पर मेरे हृदय-पट पर से वे चित्र जो लड़कपन में ही वहाँ खिंचे थे कभी भी नहीं मिटेंगे। वह सारी स्मृतियाँ कभी विलीन नहीं हो सकतीं और न मैं उस देन को भूल सकता हूँ जो बंगाल में पन्द्रह बरसों के जीवन ने मुझे दी है।

कलकत्ते में मेरी घनिष्ठता बहुत बिहारियों से भी हुई। जब मैं कलकत्ते में पढ़ने के लिए गया तो थोड़े ही बिहारी छात्र वहाँ थे। आहिस्ता-आहिस्ता उनकी संख्या बढ़ने लगी और पीछे तो वे खासी तायदाद में वहाँ पहुँच गये। हमलोगों ने अपना बिहारी-क्लब बना लिया था जिसमें हर सप्ताह में मिला करते थे। जाति-पाँति का झगड़ा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू-होस्टल में हमने अपने लिए अलग चौका रखा था जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेश प्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था। वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी थे, किसी भी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ कोई अन्न जो अपने देश में नहीं खाया जाता है वहाँ नहीं खाया। इतने दिनोंतक वहाँ रहा, मगर बंगाली 'मेस' में कच्ची रसोई एक दिन भी नहीं खायी। बिहारी साथियों में मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध बहुतेरों से हो गया

जो आज कई जिलों में बिखरे हुए अपने-अपने स्थान पर कुछ न कुछ कर रहे हैं और इसलिए जहाँ जाता हूँ कोई न कोई कलकत्ते का साथी मिल ही जाता है। घनिष्ठ मित्रों में चम्पारन के शिकारपुर के श्री अवधेश प्रसाद और जगन्नाथ प्रसाद, शाहाबाद के श्री शुकदेवप्रसाद वर्मा, भागलपुर के श्री कृष्ण प्रसाद, राँची के बद्रीनाथ वर्मा, बलभद्र प्रसाद ज्योतिषी, डाक्टर साधु सिंह, डाक्टर राजेश्वर प्रसाद, बटुकदेव प्रसाद वर्मा, विन्ध्यवासिनी प्रसाद वर्मा प्रभृति थे। इनमें कितने चले गये और कितने आज भी कायम हैं। अवधेश बाबू की मित्रता बहुत फलदायक हुई और उससे लाभ हुआ। पीछे उनके साथ शादी का सम्बन्ध भी हो गया। (क्रमशः)

o

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

पण्डितराज : एक अध्ययन

१

हिन्दू-भारत में यवन-साम्राज्य पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही, धीरे-धीरे अपना कट्टरपन भूलने लगे थे। परस्पर आलाप-संलाप एवं हृदय का आदान-प्रदान होते रहने से दोनों ओर स्वाभाविक सरलता आने लगी थी। दोनों धर्मों की मूल-रूप इकाई उच्च स्वर से समन्वय का सन्देश सुनाने लगी थी। सोलहवीं शताब्दी से पूर्व, भारत का सांस्कृतिक वातावरण कुछ ऐसा ही धुँधला, झलमला-सा, था।

फिर बाबर और हुमायूँ के साम्राज्य-काल से प्रारम्भ कर अकबर तक आते-आते तो जैसे नई संस्कृति का स्वर्ण-युग ही आ गया। वैसे समय-असमय दोनों जातियों में स्पर्द्धा-पूर्ण संघर्ष तथा प्रतिद्वन्द्विता-पूर्ण संग्राम होते ही गये; किन्तु अकबर ने भरसक शान्तिमय सन्तुलन लाने की पूरी चेष्टा की। दीन-इलाही के प्रवर्तन से बढ़कर उसके स्निग्ध, विदग्ध व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा और वीर तथा रौद्र रस के अन्तराल से जैसे स्नेह-सौहार्द का सोता फूट निकला। उसके पीछे जहाँगीर ने भी 'प्रेम-प्रीत के बिरवे' को सींचते रहने की पूरी-पूरी सुध ली और तब सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शहंशाह शाहजहाँ ने अपने दरबार में संस्कृत के उद्भट विद्वान् एवं रससिद्ध कवि जगन्नाथ को यदि प्रेमपूर्वक प्रश्रय दिया और 'पण्डितराज' की उच्च-उदात्त पदवी से विभूषित किया तो इसमें आश्चर्य्य की कोई बात नहीं।

अकबर ने भी नव रत्न सँजोये थे; किन्तु पण्डितराज की बात कुछ और थी। अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी-रूपसी नूरजहाँ के लिए भी जैसा सम्भव न हुआ,

मुमताजमहल की शाश्वत स्मृति में वैसे ही, काल के गाल पर टपके शुभ्र-समुज्ज्वल एक विन्दु अश्रु-जल-जैसे ताजमहल के प्रेमल, कला-कोमल निर्माता शाहजहाँ की छत्रछाया कितनी घनी, कितनी शीतल होगी, कहने की आवश्यकता नहीं। तब उसमें निर्द्वन्द्व रहकर पण्डितराज का यह उल्लास प्रकट करना भी कितना स्वाभाविक है कि 'दिल्ली-वल्लभ-पाणि-पल्लव-तले नीतं नवीनं वयः'।

जिन ऐतिहासिक विद्वानों ने पण्डितराज के बनाये 'जगदाभरण' और 'आसफ-विलास' के आधार पर पण्डितराज को दाराशिकोह और आसफ खाँ का आश्रित माना है उन्हें पूर्वोक्त पद से तथा 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार भ्रम-संशोधन के लिए अवकाश प्राप्त हो सकता है। दाराशिकोह 'शाह बुलंद इकबाल' होने पर भी दुर्भाग्यवश 'दिल्लीश्वर' होने से पहले ही मारा गया था और आसफ खाँ तो मुमताज के 'अब्बाजान' थे। वह 'दिल्लीश्वर' कैसे कहे जा सकते थे!

मुमताजमहल की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ आधि-व्याधि से पीड़ित रहने लगा था। तभी बड़े लड़के दाराशिकोह से भी चिर-विछोह हो गया। फिर औरंगजेब ने उसे कैद किया और एक दिन ताजमहल देखते-देखते, उसी के परेवों की तरह उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

कुछ ऐसा ही दुःखान्त जीवन पण्डितराज का भी रहा। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् उन्हें मथुरा या काशी में जीवन के अन्तिम दिन बड़े दुःख से विताने पड़े। इधर 'तख्त ताऊस' का साया छूटा, और उधर प्रियतमा से चिर-विरह हो गया।

अनुश्रुति है कि शाहजहाँ की सहायता से वह जमीन पर आसमान उतार लाये थे। आसफ खाँ की बला की खूबसूरत लड़की यानी मुमताज की सगी बहन से उन्होंने व्याह कर लिया था और, जैसे शाहजहाँ को छोड़ मुमताज चल बसी थी, वह भी उन्हें मझधार में छोड़ गई थी। इस तरह मुगल-सम्राट् और कवि-सम्राट् की सान्ध्य-जीवन-छवि एक-सी धूसर-धूमिल दीख पड़ती है।

शाहजहाँ अपनी सल्तनत की मलका की याद में जैसे पीर-भरे प्राणों की तसवीर छोड़ गये हैं; जिस मकबरे में आज भी जैसे एक सिसकती हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है—

"भुलि नाइ, भुलि नाइ, भुलि नाइ प्रिया!"

ठीक उसी प्रकार कवि-सम्राट् ने भी 'भामिनी-विलास' के रूप में जैसे अपने भाव-साम्राज्य की भामिनी की शाश्वत स्मृति छोड़ दी है, जिसके भीतर से, अन्यान्य भावों के पर्दे को चीरकर यह पीर प्रकट हो ही गई है—"भले ही मैंने उपनिषदों का अमृत-रस बूँद-बूँद पी लिया, गीता का निगूढ़ ज्ञान भी बुद्धि की तह तक पैठ जाने दिया, लेकिन हाय! किसी का वह वैसा चाँद-जैसा मुखड़ा तो मेरे प्राणों से पल-भर के लिए भी ओझल नहीं होता!

उपनिषदः परिपीता गीताऽपि च हन्त ! मतिपथं नीता
तदपि न सा विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति !"

पण्डितराज अपने प्रगल्भ पाण्डित्य एवं लोकोत्तर सम्मान के कारण असाधारण रूप से अभिमानी हो गये थे। फिर सम्राट् और प्रियतमा से बिछुड़कर तो जैसे बावले ही हो चले थे। तभी उन्हें काशी के कट्टर धर्मान्ध पण्डितों से भी लोहा लेना पड़ा। फिर क्या था, भयानक रूप से प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हो गया और उसका अन्त तो अत्यन्त द्रावक हुआ।

आज इतने अधिक सुधार और विकास के पश्चात् भी हिन्दू-जाति की, विशेषतया संस्कृत की पण्डितमण्डली की, धर्मान्धता दूर न हो पाई है, फिर आज से तीन साढ़े तीन सौ वर्ष पहले यदि उसने बौद्धिक सङ्कीर्णता और कुत्सित कट्टरता के कारण पण्डितराज का सामाजिक बहिष्कार किया हो तो इसमें आश्चर्य्य की कोई बात नहीं। पण्डितराज ने मुगल-बादशाह के साथ जवानी के अल्हड़ दिन बिताये थे, फिर कोढ़ में खाज यह कि 'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी' को गले का हार भी बना लिया था, तब भला इन दो-दो खूनों को कोई धार्मिक सरकार कैसे माफ कर सकती थी !

जो हो, पण्डितराज के लिए यह अन्ध अनुशासन असह्य हो गया। उन्होंने इसका कड़ा से कड़ा बदला लिया। अपने ग्रन्थों में उन पण्डितों के पाण्डित्य की धज्जियाँ उड़ा दीं। अपनी अन्योक्तियों के ऐसे-ऐसे विष-बुझे बाण छोड़े कि प्राण तड़फड़ाकर रह गये तीरंदाजों के। किन्तु यह निश्चय रूप से प्रतिक्रिया का ही परिणाम था। भवभूति और पण्डितराज की दम्भोक्तियाँ सामाजिक उपेक्षा के रोष से रूपित ही नहीं, वैसी निर्ममता पर बिखरे नयन-निधि के मोतियों से भूषित भी हैं।

उनकी इस बेकली का अन्तर्नाद 'गङ्गा-लहरी' है। स्वाभिमानी पण्डितराज आन्तरिक आन्दोलनों, समन्वयहीन जीवन की अरुन्तुद परिस्थितियों से ऊबने पर भी—प्रतिकूल पवन के झकोरों से हिलकोरे खाने पर भी—अपना सहज स्वर नहीं बदलते। वह सिसकते, कलपते नहीं; पर न जाने कैसे दर्प और दम्भ से गङ्गा से कहते हैं—"सावधान, आज तुम्हें किसी ऐसे-वैसे के सामने नहीं आना ! आज तो पण्डितराज के उद्धार का प्रश्न है ! सो जरा दाएँ-बाएँ देखकर, कमर कसकर तैयार हो जाओ। चाँद की कलँगी को अच्छी तरह सँभाल लो, न हो, साँपों की लपेट देकर फिर से दुहरी गाँठ लगा लो। ऐसा न हो कि अबतक के अंदाज से बेफिक्र बनी रहो और ऐन मौके पर चूक जाओ, अपनी ताकत और शोहरत का मखौल उड़वाओ !

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः !"

कहते हैं कि गङ्गा चूकीं नहीं, उन्होंने उन्हें अपनी लहरों की भुजाओं में भर लिया। पण्डितराज का भौतिक शरीर गङ्गा की धार से एकाकार हो गया। किन्तु यह तो प्रत्यक्ष है कि निर्दयता से सताई हुई उनकी निष्कलुष सत्याग्रही आत्मा जो एक सामाजिक साध सँजोये चली गई, वह अबतक पूरी न हुई, और कभी होगी भी नहीं। आये दिन मैकाले-जैसे महान् धार्मिक के द्वारा संवर्धित सम्मानित संस्कृत-भाषा के लब्धहस्त संरक्षकों—ब्राह्मण-पण्डितों के बीच से अब वैसा उद्भट विद्वान् एवं जाज्वल्यमान प्रतिभाशाली कवि कभी प्रकट न होगा, न होगा!

२

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरुभट्ट सकल शास्त्रों के लोकोत्तर वेत्ता थे और पण्डितराज तो फिर पण्डितराज ही थे।

इनके बनाये लगभग दस-बारह ग्रन्थों में तीन-चार अधिक प्रसिद्ध हैं। 'मनोरमा-कुचमर्दन' को छोड़कर शेष सभी पुस्तकें साहित्य-विषयक हैं। अप्पयदीक्षित नामक एक द्राविड़ विद्वान् से इनका आजीवन घोर संघर्ष रहा। उन्होंने ही मुखिया बनकर पण्डितराज का जातीय बहिष्कार किया था। किन्तु पण्डितराज ने उनकी-सी कायरता नहीं दिखलाई। इन्होंने उनके पाण्डित्य की ही छीछालेदर की। उनकी 'चित्र-मीमांसा' की विचित्र मीमांसा का इन्होंने चुनौती दे-देकर खण्डन कर दिया। तो, भामिनी-विलास, गङ्गा-लहरी और रसगङ्गाधर पण्डितराज के विशेष विख्यात ग्रन्थ हैं। इनमें भी, पहले दोनों 'रसगङ्गाधर' के उदार उदर में समाए-से दिखते हैं। वस्तुतः रस-गङ्गाधर ही इनकी प्रतिनिधि रचना है।

पण्डितराज इस बेसिर-पैर की उक्ति के ज्वलंत प्रतिवाद थे कि असफल कवि आलोचक बन जाता है। वैसे तो संस्कृत के सभी कवि महान् से महीयान् हुए हैं, किन्तु कविता और विद्वत्ता का 'गंगा-जमुनी' संगम विशेष रूप से श्रीहर्ष और पण्डितराज में देखा जा सकता है। पण्डितराज ने अपनी कसौटी पर बारीकी से कसकर सोने से भी ज्यादा जगमगानेवाली कितनी ही नकली धातुओं का खोटापन, निकम्मापन दरसा दिया है। साथ ही, कस्तूरी की-सी खुशबू फैलानेवाले इनके अनोखे भाव दूसरे-दूसरे बागबानों की निगरानी में खिले कुसुमों की ओर किसी अनाघ्रात सुरभि के लिए उत्सुकता नहीं दिखलाते।

पण्डितराज की काव्य-रचना का विवेचन (Study of technique) करने पर पता चलता है कि वह प्रकृति से ही कलात्मक सौष्ठव के पक्षपाती, दूसरे शब्दों में उक्ति-चमत्कारवादी थे। यहाँ तक [illegible] वक्रोक्तिवादी कुन्तक और

पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावादी, कलावादी क्रोसे, स्पिनगार्न, ब्रैडले आदि रस-सिद्धान्त की व्यापकता से बाहर नहीं दिखते; पर प्रत्यक्षरूप से ये सब के सब कलानिष्ठ चमत्कार के आग्रही हैं। इसीलिए पण्डितराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानना मंजूर नहीं किया है। उनकी कुछ रोचक दलीलें ये हैं कि वस्तु-वर्णन-प्रधान अथवा अलङ्कार-चमत्कार-प्रधान काव्य को अकाव्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार नैसर्गिक श्री-सुषमा या बच्चों, बंदरों का उछलना-कूदना, खेलना-किलकारियाँ भरना आदि अनादिकाल से काव्य के उपादान रहते आये हैं। बलपूर्वक वैसे वर्णनों में रस का अनुसन्धान निष्फल है। वे अपनी ही विशेषताओं से काव्य हैं। काव्यत्व की प्रतिष्ठा के लिए उन्हें रस का सहारा अभीष्ट नहीं।

अपनी इस स्थापना के बहुविध निदर्शन भी उन्होंने प्रस्तुत कर दिये हैं। साथ ही प्रकृति के मनोरम, दार्शनिक, मानवीकृत एवं आलम्बन-उद्दीपन के शत-शत चित्र उनकी कविताओं में पाये जा सकते हैं। किन्तु इन सारे गुणों से बढ़कर उनकी उक्तियों में उर्दू-फारसी के शेरों की तरह ऐसी चुस्ती आई है, जो सुननेवाले के मन को तत्काल मोह लेती है!

महाकवि माघ ने "शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते" लिखा सही; पर इसका समुचित निर्वाह पण्डितराज की रचनाओं में ही देखा जा सकता है। पद्य तो पद्य, उनके गद्य में भी भगवती भारती की नूपुर की झङ्कार सुनाई पड़ती है। कहते हैं, ऊँट पहाड़ के पास पहुँचकर अपनी ऊँचाई को ठीक-ठीक पहचान पाता है; यदि आज के कवि नये-नये युग के निर्माण से अवकाश प्राप्त कर अपने हठात् आकृष्ट शब्दों की लड़खड़ाती हुई लड़ियों की असलियत जानना-समझना चाहें, तो उन्हें पण्डित-राज-जैसे तुङ्ग हिमालय-शृङ्ग से निकली सुर-सरिता का कल-कल निनाद अवश्य सुनना चाहिए।

'No poem can be judged by standards external to itself' कहनेवाले रिचर्ड्स-जैसे आलोचक काव्य-वस्तु में किसी भी प्रकार का बाह्य नियन्त्रण नहीं सह सकते हैं, जब उसकी चोखी बनावट और अनोखी गढ़न में ही उनका मन रम जाता है। प्रत्येक चमत्कारवादी इसी प्रकार का आग्रह प्रकट करता है। मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति काव्य को अन्ततः जीवन-समीक्षा समझनेवाले उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। वैसे तो संस्कृत में दमे के मरीज की साँस-जैसी 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'-शब्दावली सुनाई पड़ती है; किन्तु भरत से पण्डितराज तक किसी ने भी काव्य की जीवन से संबद्ध व्याख्या नहीं की है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की बार-बार दुहाई देने पर भी वहाँ कविता Art for Art's sake के मानदण्ड से ही पुनःपुनः परीक्षित हुई है। दोष-गुण या रस-अलङ्कार का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन काव्य का स्थूल एवं

आंशिक विवेक ही कहा जायगा। यह दूसरी बात है कि जीवन की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा सर्वाधिक संस्कृत-साहित्य में ही पाई जा सकती है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' महाभारत के अतिरिक्त और किसी प्रबन्ध के लिए दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। अस्तु, मुझे यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि पण्डितराज भी अमरु, गोवर्धन आदि की भाँति मुक्तक काव्य के पक्षपाती थे और इस प्रकार के एक-एक मुक्तक छन्द को आनन्दवर्द्धन ऐसे आचार्य्य 'प्रबन्धायमान' कहकर पहले ही से संवर्धना प्रदान कर चुके थे।

मुक्तक के लिए शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है कि जो रस प्रबन्ध-काव्यों में धारा के रूप में बहता है वही मुक्तक पद्यों की छोटी-छोटी नलिकाओं से पिचकारी की तरह छूटता है। यह पिछला ढंग समाज और जलसों के अधिक अनुकूल पड़ता है।

पण्डितराज के कुछ रसीले मुक्तकों के नमूने देखिए—"एक ओर किनारे पर खड़ी रूपसी का हँसता मुखड़ा और दूसरी ओर जल में खुलता-खिलता कमल देख रस की प्यासी भोले भौंरों की 'भीर' बावली-सी कभी इधर कभी उधर दौड़ रही—मँड़रा रही है!

तीरे तरुण्या वदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्द-लुब्धालि-किशोर-माला!"

वैसे तो इसमें 'ससन्देह' अलङ्कार व्यङ्ग्य है, क्योंकि कमल और मुखड़े में कौन-सा सही कमल है, इसे भौंरा झटपट भाँप नहीं पा रहा, किन्तु इससे अधिक अनुभूति-भरी तन्मयता के कारण भाव-चित्र की जो बिम्बवत् सजीवता आँखों के आगे छा जाती है, रूप-कल्पना पर जो रस-रंग की तरङ्ग विजयिनी हो उठी है, उसका अनुभव आनन्द का उत्स सिद्ध होगा। आलङ्कारिक-विवेचन वाचक पद के अभाव में व्यङ्ग्य बताकर सन्तुष्ट हो जायगा और अभेद संसर्ग के द्वारा मुख और कमल में सदृश सौन्दर्य्य की ओर भी कदाचित् इङ्गित कर देगा; किन्तु इससे बढ़कर 'मुग्धा' और 'मरन्द-लुब्धा' में भाव का जो सूक्ष्मतम सौन्दर्य्य है कि एक तो भौंरा 'भोरा' है, दूसरे रसलोभी है—रस के लिए 'बावला' हो रहा है, इसलिए उसका असलियत पहचाननेवाला विवेक खो-सा गया है और वह भूला-भूला फिर रहा है, इसे अपनी ही ओर से समझना होगा। Aesthetic pleasure या सौन्दर्य्य-बोध का असली आनन्द तभी सम्भव है, जब काव्य-गत सौष्ठव के अणु-परमाणुओं तक का उद्घाटन धैर्य्य के साथ किया जाय!

गतिशील भावों का एक और संश्लिष्ट चित्र देखिए—'गुरु-जनों के बीच बैठी अपनी प्राणाधिक प्रेयसी को मैंने कमल की कली से हौले [illegible] फिर

बया था, उसके कानों के कुण्डल डोल उठे, भवों में बल पड़ गये, और वह मुझे घूरकर झट दूसरी ओर घूम गई !

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी
निहता नीरज-कोरकेण मन्दम्,
दर-कुण्डल-ताण्डवं नतभ्रू-
लतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत् !"

पण्डितराज के विभाजन के अनुसार यह उत्तमोत्तम काव्य है। इसमें 'अमर्ष' नामक सञ्चारी भाव की ध्वनि प्रधानता पा रही है। 'घूम गई' कहने से यह भाव ध्वनित हो रहा है कि 'अजी ओ मजनू, तुम्हें इतना भी होश नहीं कि मैं कहाँ, किसके पास बैठी हूँ ? कहीं ऐसी गुस्ताखी ऐसे-ऐसे लोगों के सामने भी की जाती है ?'

इसी प्रकार स्मृति-नामक सञ्चारी भाव की स्फूर्ति में उन्होंने एक ऐसी तसवीर आँकी है जिसकी झाँकी प्राणों को पागल किये देती है—

"तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः !

साँझ की सरोजिनी-जैसी अधमुँदी, अलसाई आँखोंवाली की वह मीठी-मीठी मुसकान, वह सौरभ-सनी भीनी-भीनी उसाँसें और वह भोलेभाले सलोने मुखड़े की मोहिनी अब भी जब कभी याद आती है तो ओह ! कलेजे में कैसी कसक-सी होने लगती है !"

अवश्य ही कला के पारखी इन वर्णनों को केवल परम्परा-भुक्त न मानेंगे। कालिदास तो कालिदास, यह जयदेव के शृङ्गार से भी पृथक् स्वर-सन्धान है। पण्डितराज की इस उमरखैयामी शृङ्गार-भङ्गि को देश-काल के प्रभाव के साथ पढ़ना पड़ेगा।

मैं कहना चाहता हूँ कि यहाँ भारतीय चषक में सौरभ भरता पारसी द्राक्षा का माधुर्य्य है ; अपने सांस्कृतिक आवेष्टन में ईरानी नूर भी घुल-मिल गया है। मैं ऐसे संमिश्रण के पक्ष में हूँ। इससे भाषा और भावों में रूढ़ि का जंग नहीं लगने पाता, उलटे सान-चढ़ी धार-सी तेजी आ जाती है, जगमगाहट छा जाती है।

आज संस्कृत की ऐसी समन्वयात्मक ग्राहिका-शक्ति नष्टप्राय हो गई है, इसीलिए तोतली बोली बोलनेवाले भी हकलाते-हकलाते उसे मृत-भाषा कह डालने का दुःसाहस कर बैठते हैं।

अन्यान्य भाषाओं के संसर्ग में आने के बाद देव-वाणी में पिछले दिनों मैंने भी कुछ नई-नई अभिव्यक्तियाँ लाने की चेष्टा की थी, उसके आन्तर और बाह्य स्वरूपों को

नये सिरे से सजाने का साहस किया था, जिसका परिणाम मेरे—

"अधुना नयनयोर्न हि वारि,
गीतमद्य न निर्गमिष्यति
भुवन-मोहन-कारि!" —जैसे गीतों में,

तथा—

"ज्योत्स्ना-स्नाते निशीथे किसलयशयिते मर्मरे स्निग्धसान्द्रे,
चान्द्रम्पीयूषमाचामति चटुलचलच्चञ्चुचञ्चचकोरे!"

—जैसे श्लोकों में प्रत्यक्ष है; किन्तु एक ओर मेरे हम समानधर्मा मुझे 'कवि-रूप' में हिन्दी में ही न निखरने देने के लिए जैसे सर्वदा सावधान हैं, वैसे ही सामयिक पत्रपत्रिका-विहीन सनातन संस्कृत-समाज में इस नूतन विधान का यथारूप प्रकाशित होना दुःसाध्य समझकर ही मैं क्रमशः हतोत्साह होता गया। अस्तु।

वैसे तो मध्ययुग से ही संस्कृत-काव्य ह्रासोन्मुख दीख पड़ता है और प्राकृत का पक्ष सविशेष समर्थित। एक प्राकृत कवि ने यहाँ तक लिख डाला कि "सुललित-शृङ्गार-भरे युवतिजनों के प्यारे, मधुर-कोमल-कान्त-पदावली-वाले प्राकृत-काव्य को छोड़ भला किसकी प्रवृत्ति संस्कृत की ओर होगी?" फिर मूल-प्राकृत का अपभ्रंश—उसका लोक-भाषा के साथ सहज-सम्बन्ध, अपने ही बनाये निष्ठुर-निर्मम आईन-कानून के शिकंजे में जकड़ी संस्कृत को यथास्थान छोड़कर अनुदिन प्रगतिशील रहा। और, पण्डितराज की कविताएँ तो उस समय की हैं जब लोकभाषा—हिन्दी-भाषा में सर्वोच्च प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो चुका था, हो रहा था। विद्यापति की पदावली जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से कहीं अधिक अन्तर्मुखी एवं अनुभूतियों की गरिमा से मण्डित रही। इसी प्रकार नाथसम्प्रदायवालों की निर्गुणोपासना कबीर-जैसे ज्ञानी भक्त की भाव-धारा में रूपान्तरित होकर प्रकाश में आई। निर्विकल्प रूप से वह समय सूर, मीरा एवं तुलसीदास के विकासोल्लास का था। और, जिस प्रकार आज से सौ-दो-सौ वर्षों के बाद हिन्दी पढ़नेवाला प्रेमचन्द और प्रसाद को समसामयिक मानते हुए थोड़ी-सी झिझक प्रकट करेगा, मुझे उससे भी अधिक यह स्वीकार करते सङ्कोच हो रहा है कि 'रामचरितमानस' और 'भामिनी-विलास' प्रायः समसामयिक कृतियाँ हैं।

'भामिनी-विलास' नाम ही कवि की भीतरी रुचि के परिचय के लिए पर्य्याप्त है। रीतियुग की जघन्यता से ऊँचे उठकर भी वह उसीका परिमार्जित रूप समझा जायगा। कहना चाहिए कि शालिवाहन, अमरुक या गोवर्धन ऐसे महाकवि ही पण्डितराज के आदर्श थे और उन्हीं के चिपचिपाते, भिनभिनाते रसीले मुक्तकों के इतिहास का उन्होंने सुरुचिपूर्ण उपसंहार तैयार किया। 'सुरुचिपूर्ण' या 'परिमार्जित' शब्दों पर मेरा विशेष आग्रह है, जो उपरिलिखित मुक्तक-छन्दों के स्वाध्यायियों से अविदित न रहेगा।

निश्चय ही ऐसी रचनाओं पर देश-काल का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। फिर पण्डितराज के काव्य का पौदा तो मुगल-बादशाहत के विलासवैभव की सुरभि-भरी फुहार से ही सींचा गया। बिहारीलाल के लाल-गुलाबी दोहे भी समय-समीर के झोंकों पर ही झूले।

'भामिनी-विलास' में चार प्रकार के विलास प्रकाशित हुए हैं। यह वर्गीकरण भर्तृहरि के शतकों-जैसा ही नीति, शृङ्गार और वैराग्य के आधार पर हुआ है। करुण-विलास तो केवल उन्नीस पद्यों का है, जिसमें मृत प्रेयसी के शृङ्गार-सम्बन्धी हाव-भावों को लक्ष्य कर रूढ़ करुणरस का वर्णन किया गया है और शान्त-विलास में भक्ति एवं निर्वेद-वैराग्य के पचीस स्फुट पद्य संगृहीत हैं। शेष पुस्तक में अन्योक्ति और शृङ्गार की बहार है।

पण्डितराज की अन्योक्तियाँ पण्डित-समाज में समधिक समादृत हुई हैं। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों के नाटकों में जैसे आशिक-माशूक या अन्यान्य पात्र भी भरसक शेरों और गजलों में ही बोलते हैं, ठीक वैसे ही इन अन्योक्तियों के सहारे विद्वज्जन परस्पर संलाप करते देखे जाते हैं। वह अंश तो सविशेष व्यवहार में लाया जाता है, जिसमें पण्डितराज अपने दम्भ से आप ही दब-से गये हैं।

क

"'हाँ, कुछ मतवाले दिग्गजों की चर्चा सुनने में आती है। पर वे भी तो न जाने क्षितिज के किस छोर पर छिपे रहते हैं; कभी रू-ब-रू आते ही नहीं! और बेचारी हथनियाँ? उन पर तो तरस आता है मुझे! फिर ये फुदकते, चौकड़ी भरते हिरनों के छौने? छिः, इनसे मेरा क्या मुकाबला? और तब तुम्हीं बताओ कि यह मृगराज अपने चोखे नाखूनों की करामात कहाँ दिखलाये? काहे पर आजमाइश करे इनकी तेजी की—इस खरगोशों, गीदड़ों से भरे जंगल में?

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः?"

ख

"सिंहनी बच्चे को दूध पिला रही है कि मेरे प्यारे मुन्ना, अपनी नन्हीं-नन्हीं झिलमिलाती आँखें मूँदकर चुपचाप दूध पिये जा! क्यों भला किसी मतवाले हाथी की चिग्घाड़ का खयाल कर तू इधर-उधर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगता है? अरे वह तो सारे संसार की जी की जलन बुझानेवाले ऊदे-ऊदे कजरारे बादल हौले-हौले गड़गड़ा रहे हैं।

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान्
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहर-
न्नयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः !"

'जौ लौं फुलै न केतकी तौ लौं बिरम करीर' की अन्योक्ति पण्डितराज के द्वारा यों प्रकट हुई है—

तावत्कोकिल विरसान्
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्
यावन्मिलदलिमालः
कोऽपि रसालः समुल्लसति ! *

अपनी प्रथम शैशव-कृति 'काकली' में मैंने भी कुछ इसी लहजे में कहने की हिमाकत की थी—

तावत्कोकिल ललितां
नवरसवलितां च काकलीं कलय
यावत्प्रावृषि भेको
न वदत्येकोऽपि सम्भ्रान्तः। †

अन्योक्तियों की विद्वत्-प्रियता के सम्बन्ध में मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ। आगे चलकर इनका अन्धाधुन्ध अनुकरण किया गया जिससे इनकी लोक-प्रियता का भी सहज ही अनुमान किया जा सकता है। आज भी हिन्दी में ऐसे दाम्भिक जीव-जन्तु मौजूद हैं जो पण्डितराज की-सी अन्योक्तियों की कौन कहे, उनकी जैसी गर्वोक्तियों को भी अपने खर्व-रूप में बलपूर्वक संघटित कर लेते हैं।

पण्डितराज की अन्योक्तियों के कई प्रकार हैं। कुछ तो अत्यन्त करुण तथा द्रावक हैं और कुछ दृप्त एवं तेजस्वी। जैसा उनके आभ्यन्तर-परीक्षण से प्रतिभासित हो सकता है, उनमें दो विरोधी तत्त्व समान रूप से विद्यमान थे। उन्हीं के संघर्ष की

* मेरी प्यारी कोयल, जबतक कोई आम का पेड़ बौरों से धरती चूमता न दिखे; जबतक उसकी मञ्जु मञ्जरियां पर भौंरों की पाँती गाती-गुनगुनाती नजर न आये, तबतक इधर-उधर किसी भी जंगल में छुप-छिपकर खिजाँ की जिन्दगी गुजार ले। —ले०

† नन्हें, नादान कोकिल-कुमार, यदि तुम अपनी तोतली बोली को मीठी और नवों रसों से भरी समझकर कुहू-कुहू की रट लगाये जाते हो तो लगाये जाओ, लेकिन भई, यह सिलसिला तभी तक चलाना जबतक बरसात की शुरुआत होते-होते एक भी 'सम्भ्रान्त' मेढ़क टर्राना न शुरू कर दें। —ले०

प्रतिक्रिया क्रोध और करुणा, किंवा प्रेम और निर्वेद के रूप में उनके काव्य में प्रतिफलित हुई है। वे एक ओर सकल शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् और दूसरी ओर मर्मस्पर्शी सुकुमार कवि थे। इसी प्रकार एक ओर भारत-सम्राट् से पुरस्कृत और सम्मानित थे, तो दूसरी ओर कट्टर-पंथी पण्डित-समाज से लाञ्छित और उपेक्षित। इन सारे आलोड़नों-विलोड़नों या उनकी तमाम मानसिक हलचलों को 'भामिनी-विलास' के माध्यम से भलीभाँति भाँपा जा सकता है। वासना और वैराग्य के संमिश्रण से महत्तम कला का रूप निखर आता है, इसे 'भामिनी-विलास' अनायास सिद्ध कर देता है।

'रस-गङ्गाधर' पण्डितराज की साहित्य-साधना की चरम सिद्धि है। संस्कृत साहित्य में इसकी समता करनेवाला अलङ्कार-शास्त्र का दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण को छोड़ देने पर भी ईसा की पाँचवीं शताब्दी के लगभग भामह ने जिस शास्त्र की नींव दी थी, सत्रहवीं शताब्दी में—पूरे बारह सौ वर्षों के मनन-चिन्तन के पश्चात्—उसका गगनचुम्बी प्रासाद 'रस-गङ्गाधर' के रूप में तैयार हुआ है। दुर्भाग्य-वश पूर्ण न हो पाया, अन्यथा गगनचुम्बी ही नहीं, स्वर्ग तक ऊँचा उठा होता वह।

वस्तुतः अलङ्कारशास्त्र का स्वर्ण-युग नवीं शताब्दी से ही शुरू हो जाता है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य की ध्वनि-तत्त्व की मौलिक उद्भावना ने ही शुरू-शुरू इसमें चार चाँद लगाये और ग्यारहवीं शताब्दी में 'काव्य-प्रकाश' के निर्माता मम्मट भट्ट ने तो इसे सम्पूर्ण रूप से 'शास्त्र' बना दिया। इन दो सौ वर्षों के बीच भी काफी छान-बीन हुई थी। राजशेखर, अभिनवगुप्त, कुन्तक और महिमभट्ट ने अपने-अपने प्रकार से सूक्ष्म से सूक्ष्म समीक्षाएँ प्रस्तुत की थीं। काव्य-प्रकाश के निर्माता ने इन समस्त पूर्ववर्ती आलोचकों के विचारों का सुचारु रूप से उपयोग किया। किसी हद तक यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि 'काव्य-प्रकाश' अलङ्कार-शास्त्र का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है। मैंने 'रस-गङ्गाधर' की गरिमा का उल्लेख अन्य अभिप्राय से किया है, जो आगे प्रकट होगा।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से पण्डितराज तक दो-चार आलङ्कारिक और हुए जिनमें राजानक रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ और अप्पयदीक्षित प्रमुख हैं। इनमें भी विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ, यद्यपि अलङ्कार-शास्त्र में उससे अधिक लचर और कोई ग्रन्थ नहीं। किन्तु 'जस-अपजस विधि-हाथ' वाले निष्ठुर सत्य को कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है।

यह ठीक है कि 'साहित्य-दर्पण' में साहित्य के विविध अङ्गों-उपाङ्गों का सुन्दर सङ्कलन हुआ है और नाट्य-शास्त्र को छोड़कर अलङ्कार-ग्रन्थों में केवल उसीमें नाट्य-सम्बन्धी स-विस्तर चर्चा है; किन्तु विश्वनाथ के विचार इतने उलझे हुए और सिद्धान्त ऐसे कच्चे हैं कि उसे एक प्रौढ़, परिपक्व ग्रन्थ स्वीकार करते संकोच होता है।

इधर इन पुस्तकों के जैसे-तैसे हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित हो गये हैं और आलोचकों ने उनका अविकल उपयोग करना भी शुरू कर दिया है। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि पूर्वापर-परीक्षा के बिना वैसा करना समीचीन नहीं है। हमारे आलोचक पाश्चात्य लेखों के साथ अपनी चिरन्तन चिन्तन-धारा की तुलनात्मक आलोचना करने लगे हैं, यह तो शुभ लक्षण है; किन्तु उसके साथ ही 'सम्यग्दृष्टि' के लिए सम्यक् अध्ययन की ओर भी उन्मुख होना आवश्यक है।

एक दिन श्रीगुलाबरायजी का 'नव रस' पढ़ाते समय मैं बड़े पशोपेश में पड़ा। उन्होंने उसमें विश्वनाथ का हवाला दिये बिना भी उसीका-जैसा वक्रोक्ति-मत उपस्थित किया है। विश्वनाथ की गलत बात दुहराना यों भी ठीक नहीं, फिर उदाहरण द्वारा उसे विशकलित करते समय तो उन्होने और भी अर्थ का अनर्थ कर डाला है। आलोचक को मूल ग्रन्थ का आलोड़न कर वक्रोक्ति-मत का शुद्ध स्वरूप जान लेना चाहिए, फिर देखना चाहिए कि यह 'क्रोसे' के व्यापक सिद्धान्त से भी बहुत-कुछ मिलता-जुलता है या नहीं! कम-से-कम उसे उतना संकुचित समझना तो अन्याय-पूर्ण ही है। जो हो, पण्डितराज ने अपने प्रबन्ध में पूर्व-वर्णित सभी आचार्यों की स्थापनाओं का सम्यक् आकलन किया है। उन्होंने न तो 'काव्य-प्रकाश' के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार वामनाचार्य्य की भाँति ढेरों विचार इकट्ठे कर 'सही बकलम खास' कर दिया है और न विश्वनाथ की भाँति पाँचवाँ सवार बनने के लिए व्यर्थ ही दुरुक्तियाँ झाड़ी हैं। प्रत्युत प्रत्येक विषय की गम्भीर गवेषणा कर उन्होंने नई-नई उद्भावनाएँ अति प्रिय भाषा में उपस्थित की हैं। यही कारण है कि हमें उनकी स्थापनाओं, उपपत्तियों से विरोध हो सकता है; किन्तु हम उनकी मर्मस्पर्शिता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

'काव्य-प्रकाश' एक वैयाकरण या दार्शनिक का विमर्श-सन्दोह होने के कारण तनिक नीरस-सा हो गया है; किन्तु पण्डितराज ने तो गद्य में भी कविता की सुर-सरिता बहा दी है जिससे उनके सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार भी रस से भींग-से गये हैं। रवीन्द्रनाथ को छोड़कर मैंने अन्य किसी भी समीक्षक को उतनी मनोरम भाषा में उतना गम्भीर चिन्तन गुम्फित करते नहीं देखा।

'रस-गङ्गाधर' में 'काव्य-प्रकाश' के सभी विमृष्ट विषयों की नये सिरे से छान-बीन की गई है। इतना ही नहीं, प्रत्येक में कोई न कोई नई सूझ भी जरूर पेश की गई है। ये नई-नई सूझें ही जगन्नाथ को पण्डितराज सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। काव्य-लक्षण, उसका कारण, प्रतिभा, काव्य-भेद, रस, गुण, भाव, ध्वनि, अलङ्कार आदि विषयों का विस्तार-पूर्वक विवेचन करते हुए उन्होंने अपना अभिमत सर्वत्र प्रकट किया है। उनकी उतनी सब मौलिक स्थापनाओं को इस अल्प-काय प्रबन्ध में दरसा सकना सम्भव नहीं। हो सका तो मैं यथासमय उन पर फिर प्रकाश डालूँगा।

इतना होने पर भी पूर्वोक्त प्रकार की समीक्षाओं के लिए एक रोना रह ही जाता है कि उनसे किसी कृति का संश्लिष्ट चित्र नहीं उपस्थित होता। इन समीक्षकों के पास स्थूल को भेद कर मर्म तक पहुँचनेवाली जैसी तीव्र दृष्टि थी, काश ! ये जीवन से सम्बद्ध सर्वाङ्गीण समीक्षा-शैली की ओर ध्यान देते होते ! पर ऐसा सम्भव न हुआ। कालिदास के शब्दों में इतना ही कहकर सन्तोष कर लेना पड़ता है कि—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः !"

आज हिन्दी की प्रचलित आलोचना-पद्धति में भी इसी प्रकार का एक महान दोष दीख रहा है। ये आलोचक विज्ञान तो बहुत बघारते हैं, प्रचलित-अप्रचलित पाश्चात्य प्रवृत्तियों का हिन्दी-संस्करण भी अच्छा करते हैं; किन्तु काव्य के मर्मस्थल की छाया भी नहीं छू पाते ! इसका एक विशिष्ट कारण यह जान पड़ता है कि इनका न तो काव्य-सम्बन्धी कोई स्थिर सिद्धान्त है और न इनमें कृति का समुचित मूल्याङ्कन करनेवाली मौलिक उद्भावनाओं की भीतरी शक्ति ही है। मैं निर्भय होकर यह कह देना चाहता हूँ कि नई हिन्दी के प्रतिनिधि कवि प्रसाद, निराला, पन्त या महादेवी के ढेर-के-ढेर आलोचकों में से मुश्किल से दो-चार उनकी कविताओं को ठीक-ठीक समझते हैं।

एक समीक्षक का आरोप है कि आचार्य्य शुक्लजी राजनीति के सम्पर्क में विशेष रूप से न आए, इसलिए साहित्य की आधुनिकतम प्रवृत्तियों से तादात्म्य स्थापित करने में असफल रहे। मैं कहूँ, ये समीक्षक राजनीति की स्थूल, जड़ उपपत्तियों से तो यथा-तथा सुपरिचित हैं, पर राजनीतिक आवरण को भेद कर काव्य की निजी सूक्ष्म अन्तश्चेतना तक इनकी पैनी निगाह नहीं पहुँचती। फलतः किसी अर्थ में ये आलोचक भले ही कहे जायँ, काव्य के मार्मिक समीक्षक नहीं कहे जा सकते। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मैं Conventional Criticism या रूढ़िगत समीक्षा के पक्ष में हूँ, बल्कि मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि समाज, राजनीति, दर्शन विज्ञान के अतिरिक्त काव्य की जो सर्वथा अपनी चेतना है उसकी उपेक्षा भी न की जानी चाहिए; आवर्जनाओं की बहुभूमिक व्यापकता में उस सूक्ष्म किरण-कण को भी न खोने देना चाहिए। इसी प्रकार एक पश्चिमी शैली के विद्वान आलोचक ने 'काव्य-प्रकाश' के निर्माता के प्रति निर्ममता प्रकट की है कि 'नियति-कृत-नियम-रहिताम्' कहकर भी वे कविता के लिए कड़े से कड़े नियम बना गये हैं। मैं समझता हूँ, आलोचक 'नियतिकृत नियम' तथा 'कलाकार-द्वारा संस्थापित मान-दण्ड' का स्थूल भेद मेरी अपेक्षा अधिक ही समझते होंगे। फिर ऐसा भ्रम न होना चाहिए कि संग्राम-भूमि में प्राणों की भी कतई परवा न करनेवाला सिपाही सैनिक अनुशासन (Military discipline) क्यों मानता है !

तो मैंने यही कहा कि पण्डितराज भी साम्प्रदायिकता से परे न हुए। भले ही उन्होंने काव्य के प्राचीन लक्षणों को उधेड़ कर एक नया शब्द-जाल बुना ; प्रतिभा, शक्ति और अभ्यास को समुदित काव्य-कारण न मानकर केवल प्रतिभा को साक्षात् और शेष दो को उससे अन्वित या परम्परित कारण माना। भले ही उन्होंने तीन की जगह चार प्रकार काव्य के बना दिये और शब्द-चित्र एवं अर्थ-चित्र का तारतम्य हृदयङ्गम करा दिया ; किन्तु उक्ति-चमत्कारवादी होने के कारण उन्होंने काव्य का वह मानदण्ड नहीं बनाया जिससे उन्हें और कालिदास को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। काव्य का मानव जीवन से संश्लिष्ट ऐसा मूल्याङ्कन नहीं किया जिससे उत्तमोत्तम कोटि में उदाहृत उन्हींके उदाहरणों का मूल्य दो कौड़ी समझना जौहरी की परख का ओछापन न जाहिर करे !

पर हमें तो अब काव्य की वैसी ही निष्पक्ष समीक्षा की आवश्यकता है जो सच्चे कलाकार और कोरे शब्द-शिल्पी का मौलिक विभेद भलीभाँति दरसा दे, जो पहले को जीवन में नवजीवन का आधायक और दूसरे को नफासत और वाग्विलास का विडम्बक सिद्ध कर दे, क्योंकि किसी रूप (Form) को पूर्णता-प्रदान (Finish) करना काव्य-कला नहीं, अपितु निर्लिप्त आत्मानुभूति के भीतर से जीवन की रसमय समीक्षा का ही अपर पर्य्याय है वह! हमें जायसी और तुलसी, कबीर और मीरा से जीवन के लिए जैसी मार्मिक प्रेरणाएँ मिलती हैं, वैसी देव और बिहारी से तो कदापि सम्भव नहीं ; फिर यदि हम रूप-रुचि (Pattern form) या अभिव्यक्ति के चमत्कार को ही उत्तमोत्तमता का नियामक मान लें तो दोनों का अंतर किस प्रकार समझा जा सकता है ? और, दोनों का आकाश-पाताल-जैसा अन्तर, और उसके स्वर्ग-नरक-जैसे प्रभाव-परिणाम का विचार किये बिना ही 'ब्रैडले' के नारे को बुलंद किये जाने से बढ़कर शायद ही कोई दूसरा अंधेर हो ! पण्डितराज ने भी किसी हद तक ऐसा ही किया है। वैसे उन्होंने 'गङ्गा-लहरी' भी लिखी है, जिसका पद्माकर आदि ने अनुकरण किया है ; किन्तु तो भी उन्हें न तो कालिदास-जैसा अन्तर्दर्शी कवि समझा जा सकता है और न काव्य का जीवनदर्शी सुमहान् समीक्षक। परन्तु उन्हींकी दृष्टि से उनके अन्तरतम प्रदेश का निरीक्षण कर यह अनुभव अवश्य किया जा सकता है कि उन्होंने काव्य की बारीकी में कभी कालिदास से होड़ नहीं की, और काव्याङ्ग की सूक्ष्म-परीक्षा में अप्पयदीक्षित की 'चित्र-मीमांसा' को अशुद्ध सिद्ध कर 'रस-गङ्गाधर' की महिमा वर्णित करने से अधिक दम्भ भी नहीं दरसाया। साथ ही उनकी और-और छोटी-मोटी बातों में नुक्ताचीनी करने के बावजूद 'चित्र-मीमांसा' में उद्भावित दोषों का परिहार करनेवाला तो कोई नहीं ही दिखा और द्राक्षा-द्रव्य या अंगूरी की मिठास छलकानेवाली वैसी कविताओं का निर्माता भी सचमुच ही और कोई न हुआ। तो फिर क्यों न हम उन्हींके शब्दों में एक बार उच्च स्वर में दुहरा दें—

"उत्तरी ध्रुव से कुमारी अन्तरीप तक जितने भी काव्य-निर्माण में निपुण कवि हों वे निर्भय-निःशङ्क होकर यह बतलावें कि दाख के भीतर से बिछलती-पिछलती मद-भरी माधुरी-सी छलकाती काव्य-भारती का आचार्य्य मेरे अतिरिक्त और कौन कहा जा सकता है ?—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे—
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु
मृद्वीका-मध्य-निर्य्यन्मसृण मदधुरी-माधुरी-भाग्यभाजां
वाचामाचार्य्यताया: पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः !"

●

प्रोफेसर केसरी, एम० ए०

गाँव से लौटा हुआ

तुम्हें गाँव से प्रीति गाँव की मैं न करूँगा निन्दा
किन्तु अजी कविजी ! मेरा यह कमरा करो न गन्दा !
जूते मोची को, कपड़े धोबी को पहले भेजो—
और जरा देखो ऐनक में अपना यह मुखचन्दा !
क्या लाये सौगात गाँव से अभी-अभी लौटे हो
केवल तन से नहीं, बुद्धि से भी लगते मोटे हो !
कर लो व्यंग्य, किन्तु मत समझो, मुझे हो रहा क्लेश
मेरे मन के छंद-बंध में शब्द हो रहे श्लेष
छवि की छिपी अहल्या कैसे निकलेगी पत्थर से—
यदि न राम की चरण-धूलि का होवे पुण्य-प्रवेश !
इसीलिए यह धूल फर्श पर फूल-सरिस झड़ने दो
दो क्षण गंगा के कछार का समा जरा बँधने दो
बन्द कोठरी के कोटर में लौटा अभी परिन्दा
होने दो यदि मधु-मरंद से पिंजरा होता गन्दा !
फूहड़ तन, अल्हड़ उदार मन, कोरा ग्राम-निवासी
कवि हूँ, कुछ विट नहीं छबीला मैं आरसी-विलासी

क्या लोगे सौगात ? बुद्धि की कोई जटिल समस्या ?
किन्तु बुद्धिवादिनी नहीं मृदु शस्या प्रकृति नमस्या
शरत्-प्रशान्त सरित् में उठतीं लोल लहरियाँ जैसी
जीवन पर मन का मनोज भी वैसा ही विजयैषी
सरल स्निग्ध भावना जेठ की गंगा-सी छलछल है
और बुद्धि की अति, संसृति के लिए प्रचंड गरल है
लोगे यह सौगात गाँव की ओ रे पंडित मानी ?
एक हिलोर भावना की, थोड़ा गंगा का पानी !
सघन लक्ष्मिवर्द्धन खेतों की काया धानी-धानी
जहाँ सृष्टि के बचपन की जैसे भोली नादानी—
बल खाती रंगिणी तितलियाँ ! लोगे वह इठलाना ?
महुए की मधु-महँक और कोयल का कुहुक-तराना ?
विस्तृत समतल भूमि-खंड में नभ का खोल झरोखा
बहती पुरवैया का लोगे झोंका एक अनोखा ?
पग-पग मृदुल मसृण दूबों का कोमल सेज बिछाना
झुक-झुक झूम-झूम अरहर का नीलम-चँवर डुलाना
लोगे सघन आम-जामुन का फैला हुआ चँदोवा
जहाँ बरसता रिमझिम मंजरियों का चंदन-चोवा ?
बोलो, लोगे खेत-रेत का यह सुषमा-संसार ?
सेंतमेंत में यह रत्नों का यह छवि का बाजार ?
बेच पुस्तकी ज्ञान लिया है मैंने मन का सौदा
कंकड़-पत्थर छोड़, लिया मिट्टी का एक घरौंदा
शिशु की सरल भावना मैं आँखों में लिये चला हूँ
मैं पिक-सा जीवन-बसंत का सौरभ पिये चला हूँ
मैं न बुद्धि का दास, भाव का भूखा मैं भगवान
प्रिय मुझको 'बन-बेर' गाँव की शबरी का सम्मान

श्रीनन्दकिशोर तिवारी

तीन गद्यगीत

जीवन और विनाश की असंख्य शृङ्खलाओं से मैं तुम्हारे असीम प्रेमपथ को मापने चला हूँ।

रजनी की उस निशीथ वेला में तुम मेरे आँसुओं में विद्युत् की भाँति प्रकट होकर पुनः आकाश की व्यापक शून्यता में विलीन हो गये।

जीवन के भार से आकुल रात्रि के एकान्त में, जब मैं तुम्हारी स्मृति-समाधि में लीन होता हूँ, मेरी आँखें उस आकाश-गङ्गा में किसी खोये हुए प्रतिबिम्ब को खोजती हैं।

और मन्दाकिनी के उन असंख्य प्राणों की ज्योत्स्ना में बहनेवाली तुम्हारी अनुराग की धारा ने उसे देवगङ्गा का नाम दे दिया है।

और यहाँ—इस मर्त्यलोक की गङ्गा के अतिरिक्त तुमने मेरे जीवन में अपने विरह का स्पर्श देकर मेरे हृदय में अन्तर्गङ्गा बहा दी है!

हे वरद, तुम वर दो जिससे मेरी अन्तर्गङ्गा के रूप में तुम्हारी यह देन, तुम्हारी प्रीति और मेरी प्रार्थनाओं की भाँति, अमर हो जाय और स्वर्ग तथा मर्त्यलोक की दोनों गङ्गाएँ इसका स्पर्श कर इसके दोनों कूल बन जायँ।

और उस अन्तर्गङ्गा में मानव तथा देव क्रमशः अपने प्रेम और आकांक्षाओं को एक कर दें एवं पृथ्वी और स्वर्ग तथा तुम्हारे अनेकानेक लोक अभिन्न और एकाकार हो, मुक्ति-पथ का आश्रय छोड़कर, भक्ति के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर सकें।

२

तुम्हारे अनुराग से रँगकर मेरी समस्त प्रार्थनाओं ने एक पुष्प का रूप धारण कर लिया है—कोमल, सौरभमय, श्वेत, निष्कलङ्क पारिजात-जैसा।

और निर्माल्य के रूप में, अपनी दोनों बाँहें फैलाकर मैं इसे तुम्हें समर्पित करता हूँ, यह जानते हुए कि तुम्हारे चरणों का स्पर्श कर यह मेरे और तुम्हारे मिलन का माध्यम है!

आज अपने पादपद्मों से मेरे हृदय-पटल का स्पर्श कर दो जिससे मेरी प्रार्थनाएँ अधिक तीव्र और घनीभूत हो जायँ और तुम्हारा यह मन्दिर असंख्य समाधियों का क्रीडास्थल बन जाय।

उस समय आकाश और पाताल, दिन और रात, प्रभात और संध्या का अन्तर मिट जायगा और तुम्हारे प्रकाश का स्पर्श पाते ही जीवन और मृत्यु अभिन्न तथा मिलन और विरह एकाकार हो जायँगे।

अपने आत्म-समर्पण की चिन्तन-धारा में मेरी आँखें उस सत्य का साक्षात् करती हैं जिसमें सृष्टि और उसकी सारी सत्ता तुम्हारे पथ में जाकर अनायास ही विराट् और असीम हो जाती हैं।

और उस चिन्तन-धारा की पूर्ण निस्तब्धता को चीर, तुम्हारे प्रेम और प्रकाश की किरणें समस्त ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर उसे आदि और अन्त से हीन कर देती हैं।

और नीरवता की शान्ति में तुम्हारी अमर रागिनी अनायास ही बज उठी है।

असंख्य सृष्टियों के नव-निर्माण और विनाश के क्रम के पहले—बहुत पहले यह तुम्हारे अनादि जीवन के साथ ही बज उठी थी और काल तथा सीमा से परे, असंख्य प्रलयों के बाद तुम्हारे शाश्वत जीवन तक सदा बजती रहेगी—मधुर, आकर्षक, सम्मोहन लय से तथा अनहद रूप से।

३

प्रभात की उस मङ्गल वेला में तुम्हारा सन्देश मिला जब जीवनदीप की काँपती हुई लौ मृत्यु के अन्धकार से आवृत होकर धूमिल हो रही थी और जब माया विराग का रूप धारणकर पास ही खड़ी थी।

और जीवन के दूसरे छोर से—उस दूरस्थ क्षितिज से तुम्हारी स्वर-ध्वनि आई—विदा की इस वेला में आज तुम्हें नये जीवन का उपहार दे रहा हूँ।

यह उस पुराने युग की कथा है जब से आजतक तुमने न जाने कितने जन्मों के उपहार और मृत्यु की उतनी ही समाधियाँ दीं।

और आज तुम्हारे सन्धान का पथ क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है और मेरे प्राण उस बढ़ती हुई शून्यता में अपना अस्तित्व खो रहे हैं।

उस व्यापक आकाश से दूर किस अग्निमय आवरण में तुम छिपे हो जहाँ से तुम्हारी स्वर-ध्वनि सुन पाता हूँ, पर तुम्हारा उन्मादक रूप देख नहीं पाता ?

आकाश ने तुम्हारे चरणों पर आँसू बरसाये और पृथ्वी के जन्म-जन्म की प्यास मिट गई, पर तुम्हारे नूतन उपहारों की वृद्धि के साथ मेरी प्यास क्रमशः बढ़कर असीम होती जा रही है।

आज मेरी आँखों में सावन और भादो पल रहे हैं और मुझे भय है—कहीं तुम उनमें डूबकर अपना अस्तित्व न खो दो। उस समय मेरे सन्धान का पथ अधूरा रह जायगा। इसी लिए मैंने अपने आँसू रोक रखे हैं। कारण, उनमें तुम्हारी सृष्टि और तुम्हारा अग्निमय आवरण डूब जायगा। आज इस अशेष अग्नि-पथ में तुम्हारी स्मृति के अतिरिक्त मुझे दूसरा पाथेय नहीं है।

पर देव, महाप्रलय की उस ताण्डव-लीला में, जब मेरे आँसू तुम्हारे समस्त भुवनों और लोकों को डुबा देंगे, तुम्हें मेरे जीवन-कमल में छिपकर योग-समाधि लेनी होगी।

उस दिन सागर बूँद से रो-रोकर प्रेम और मिलन की भिक्षा माँगेगा।

श्रीराजेश्वरप्रसादनारायणसिंह

फूल और बुलबुल

युगयुग की चिरसङ्गिनि, बुलबुल !
आम्र-विटपप पर प्रथम फाल्गुनी
मदिरा के ढलते प्याले,
मतवाले हो नाच रहे हैं
मधुपायी भँवरे काले ;
ऐसे में सहसा कानों में
तेरी पद-आहट आई
जाग उठा मैं, अँगड़ाई ले,
देखा परिचित परछाई !
झाँक रही थी तू चुपके-से
पल्लव के पट खोल ;
काँप उठा उर, अब भी उसके
तार रहे हैं डोल !
युग बीते पर अधर हमारे
एक हुए फिर मिलजुल,
युगयुग की चिरसङ्गिनि, बुलबुल !
याद तुझे है, नीरव सरिता
के तट का वह द्रुमदल
बैठ जहाँ पर सुनता था मैं
नदीस्रोत का कलकल ;
तू उड़ आई वहाँ अचानक
एक दिवस, कुछ गाती,
पूछा था मैंने—"क्या मुझको
तू पहचान न पाती ?"
झट पत्तों की ओट छिपी तू
बोली—"हाँ, पहचाना",
आँखों में अब भी चित्रित है
तेरा वह शरमाना !
दो दिन साथ रहे, फिर विधि ने
हा ! हमको बिछड़ाया,
देश-देश में, प्रान्त-प्रान्त में,
मिलनातुर भरमाया।

एक साथ आदिम प्रभात में
हमने आँखें खोलीं,
देखा प्रकृति गाल पर मलते
कर से रवि को रोली।
गूँज रहा है कानों में वह
अबतक गान मनोहर—
आदिगान, जो प्रकृति-कंठ से
फूटा विश्व-धरोहर !
जाग उठा जड़ भी चेतन हो
जिसकी स्वर-लहरी से,
हम भी गये जगाये सहसा
उसकी एक कड़ी से।
तब से कितने देश न जाने
देखे हम दोनों ने
देखे हैं इस भव-भूतल के
हमने कोने-कोने।
युग-युग की चिरसङ्गिनि, बुलबुल !
मधुवेला है आज मिलन की
गायें गीत मिला स्वर,
प्याले पर प्याले ढालें हम
प्रेम-मद्य से भर-भर ;
एक छंद में, एक ताल में,
बँध सँयोग के बन्धन,
रूपसि, तेरे रूप-सिन्धु में
लय हों जीवन के क्षण !
साध नहीं, रानी की अलकों
का शृङ्गार बनूँ मैं,
साध नहीं, देवों के उर का
सुन्दर हार बनूँ मैं ;
साध यही, अधरों से तेरे
मिट जाऊँ मैं घुलघुल,
युगयुग की चिरसङ्गिनि, बुलबुल !

प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा

विष के दाँत

सेन साहब की नई मोटरकार बँगले के सामने बरसाती में खड़ी है, काली चमकती हुई, स्ट्रीमलाइंड जैसे कोयल घोंसले में कि कब उड़ जाए। सेन साहब को इस कार पर नाज है—बिलकुल नया मॉडल, साढ़े सात हजार में आई है। काला रंग, चमक ऐसी कि अपना मुँह देख लो। कहीं एक धब्बा दीख जाए तो क्लीनर और शोफर की शामत ही समझो। सेन साहब की सख्त ताकीद है कि खोखा-खोखी गाड़ी के पास फटकने ना पाएँ।

लड़कियाँ तो पाँचों की पाँचों बड़ी सुशील हैं; पाँच-पाँच ठहरीं और सो भी लड़कियाँ! तहजीब और तमीज की तो जीतीजागती मूरत ही हैं। मिस्टर और मिसेज सेन ने 'उन्हें क्या करना चाहिए' यह सिखाया हो या नहीं, क्या-क्या नहीं करना चाहिए, इसकी उन्हें ऐसी तालीम दी है कि बस। लड़कियाँ क्या हैं, कठपुतलियाँ हैं और उनके माता-पिता को इस बात का गर्व है। वे किसी चीज को कभी तोड़ती-फोड़ती नहीं। वे दौड़ती हैं और खेलती भी हैं, लेकिन सिर्फ शाम के वक्त—चूँकि उन्हें सिखाया गया है कि ये बातें उनकी सेहत के लिए जरूरी हैं; वे ऐसी मुस्कराहट अपने होठों पर ला सकती हैं कि सोसायटी की तारिकाएँ भी उनसे कुछ सीखना चाहें तो सीख लें; पर उन्हें खिलखिलाकर किलकारी मारते हुए किसीने सुना नहीं। सेन-परिवार के मुलाकाती रश्क के साथ अपने शरारती बच्चों से खीझकर कहते हैं—'एक तुमलोग हो, और मिसेज सेन की लड़कियाँ हैं! अबे, फूल का गमला तोड़ने के लिए बना है! तुमलोगों के मारे घर में कुछ भी तो नहीं रह सकता!'

सो जहाँ तक सेन-परिवार की लड़कियों का सवाल है, उनसे मोटर की चमक-दमक को कोई खास खतरा नहीं था। लेकिन खोखा भी तो है। खोखा जो एक ही है, लड़का है, सबसे छोटा है। खोखा नाउम्मीद बुढ़ापे की आँखों का तारा है, यह नहीं कि मिसेज सेन अपना और बुढ़ापे का कोई ताल्लुक किसी हालत में मानने को तैयार हों और सेन साहब तो सचमुच बूढ़े नहीं लगते। लेकिन मानने-लगने की बात छोड़िए। हकीकत तो यही है कि खोखा का आविर्भाव तब जाकर हुआ था जब उसकी कोई उम्मीद सेनों को बाकी नहीं रह गई थी। खोखा जीवन के नियम का अपवाद था और यह अस्वाभाविक नहीं था कि वह घर के नियमों का भी अपवाद हो। इस तरह मोटर को कोई खतरा हो सकता था तो खोखा से ही।

बात ऐसी थी कि शीमा, रजनी, आलो, शेफाली, आरती—पाँचों हुईं तो ? उनके लिए घर में अलग नियम थे—दूसरी तरह की शिक्षा थी, और खोखा के लिए अलग, दूसरी। कहने के लिए तो सेनों का कहना था कि खोखा आखिर अपने बाप का बेटा ठहरा, उसे भी तो इञ्जिनियर होना है, अभी से उसमें इसके लक्षण दिखाई पड़ते थे, इसलिए ट्रेनिंग भी उसे वैसी ही दी जा रही थी; बात यह थी कि खोखा के दुर्ललित स्वभाव के अनुसार ही सेनों ने अपने सिद्धांतों को भी बदल लिया था। अक्सर ऐसा होता है कि सेन-परिवार के दोस्त आते हैं, भड़कीले ड्राइङ्ग-रूम में बैठते हैं और बातचीत के लिए विषय का अभाव होने पर चर्चा निकल पड़ती है कि किसका लड़का क्या करेगा। तब सेन साहब बड़ी मौलिकता और दूरन्देशी के साथ फरमाते हैं कि वह तो अपने लड़के को अपने ढंग से ट्रेन करेंगे; करेंगे क्या, कर रहे हैं; आजकल की पढ़ाई-लिखाई तो फिजूल है, वह तो उसे अपनी तरह बिजनेस-मैन, इंजिनियर बनाना चाहते हैं। 'अब देखिए न,' सेन साहब कहते हैं, 'खोखा पाँच साल का हो रहा है। लोग कहते हैं, उसे किंडरगार्टन-स्कूल में भेज दो; लेकिन मैंने अभी यही इन्तजाम किया है कि कारखाने का बढ़ई मिस्त्री दो-एक घंटे के लिए आकर उसके साथ कुछ ठोंक-पीट किया करे। इससे बच्चे की उँगलियाँ अभी से औजारों से वाकिफ हो जायँगी। हिन्दुस्तानी लोग यही नहीं समझते।'

एक दिन का वाकया है कि ड्राइंगरूम में सेन साहब के कुछ दोस्त बैठे गप-शप कर रहे थे। उनमें एक साहब साधारण हैसियत के अखबारनवीस थे और सेनों के दूर के रिश्तेदार भी होते थे। साथ में उनका लड़का भी था जो खोखा से भी छोटा, पर बड़ा समझदार और होनहार मालूम पड़ता था। किसीने उसकी कोई हरकत देखकर उसकी कुछ तारीफ कर दी और उन साहब से पूछा कि बच्चा स्कूल तो जाता ही होगा। इसके पहले कि पत्रकार महोदय कुछ जवाब देते, सेन साहब ने कहना शुरू कर दिया—'मैं तो खोखा को इंजिनियर बनाने जा रहा हूँ'···और वे ही बातें जिन्हें दुहराकर वह थकते नहीं थे। पत्रकार महोदय चुप मुस्कराते रहे। जब उनसे फिर पूछा गया कि अपने बच्चे के बारे में उनका क्या खयाल है, उन्होंने कहा—'मैं चाहता हूँ, वह जेंटिलमैन जरूर बने, और जो कुछ बने – उसका काम है, उसे पूरी आजादी रहेगी।' सेन साहब इस उत्तर के शिष्ट और प्रच्छन्न व्यंग्य पर ऐंठकर रह गये।

तभी बाहर कुछ शोरगुल सुनकर सेन साहब उठने लगे तो उनके मित्रों ने भी जाने की इच्छा प्रकट की और उन्हीं के साथ सब बाहर आये। बाहर सेन साहब का शोफर एक औरत से उलझ रहा था। औरत के पास एक पाँच-छ साल का बच्चा खड़ा था जिसे वह रोकने की कोशिश कर रही थी; क्योंकि बच्चा बार-बार शोफर की तरफ झपटता था।

सेन साहब को देखकर औरत सहम गई। शोफर ने सेन साहब की ओर बढ़कर अदब के साथ कहा—'देखिए साहब, मदन गाड़ी को छू रहा था, गाड़ी गंदी हो जाती, मैंने मना किया तो लगा कहने—जा-जा, तो मैंने उसे पकड़कर अलग कर दिया, इसपर मुझी को दौड़ा मारने, अब उसकी माँ भी आकर खामखाह मुझसे उलझ रही है।' मदन की माँ कुछ कहना चाहती थी, लेकिन सेन साहब के सटे होठों को देखकर चुप रह गई। सेन साहब ने बड़े संयत—पर कठोर—स्वर में कहा—'मदन की माँ, मदन को ले जाओ और देखना, वह फिर ऐसी हरकत न करे।' मदन की माँ अपने बच्चे के बाँयें घुटने से निकलते हुए खून को पोंछती हुई चली गई—ड्राइवर ने शायद उसे धकेल दिया था और वह गिर पड़ा था। लेकिन एक मामूली किरानी के बेटे को सेन साहब के ड्राइवर ने धक्का ही दे दिया और उसे चोट ही आ गई तो आखिर ऐसी कौन बात हो गई

ठीक इसी वक्त मोटर के पीछे खट्-खट् की आवाज सुनकर सेन साहब लपके, शोफर भी दौड़ा। और लोग भी सीढ़ियों से उतरकर बाहर अपनी-अपनी गाड़ियों की ओर चले। सभी ने देखा, सेन साहब खोखा को गोद में लेकर उसे हल्की मुस्कराहट के साथ डाँट रहे हैं और मोटर की पिछली बत्ती का लाल शीशा चकनाचूर हो गया है। सेन साहब ने अपने मित्रों का संबोधन करते हुए कहा—'देखा आपलोगों ने? बड़ा शरारती हो गया है काशू। मोटर के पीछे हरदम पड़ा रहता है। उसके कल-पुर्जों में इसकी अभी से इतनी दिलचस्पी है कि क्या बताऊँ। शायद देखना चाह रहा था कि आखिर इस बत्ती के अंदर है क्या।'

सेन साहब खोखा को जमीन पर रखकर अपने दोस्तों के साथ उनकी कार की ओर चले। उन्होंने अपने मित्रों की भाव-भंगिमा को देखा नहीं, देखते भी तो कुछ समझ पाते, इसमें शक ही था। मिस्टर सिंह अपनी कार के पास पहुँचे और सेन साहब को नमस्कार कर दरवाजा खोलने के लिए बढ़े और फिर रुक गये। उनकी निगाह अचानक ही अगले चक्के पर पड़ गई थी। उन्होंने नजदीक जाकर देखा और परेशानी की हालत में खड़े हो गये। टायर बिल्कुल बैठ गया था। शायद 'पंचर' हो गया था। सेन साहब भी आगे बढ़ आये और कुछ झिझकते हुए बोले—'कहीं ऐसा तो नहीं है कि काशू ने हवा निकाल दी हो; ड्राइवर, जरा दूसरे चक्कों को भी देख लो और पम्प ले आकर हवा कर दो, और, हाँ, कुर्सियाँ लॉन में लगवा दो, तब तक हम यहीं बैठते हैं।'

ड्राइवर ने कार का चक्कर लगाकर सूचना दी कि दूसरी ओर के पिछले चक्के की हवा भी निकली हुई थी। 'काम तो काशू बाबू का ही मालूम होता है, इधर ही खेल भी रहे थे'—शोफर ने बताया और पम्प लाने चला गया।

मुकर्जी साहब की गाड़ी सकुशल थी और वह अपने और पत्रकार महोदय के परिवार के साथ तो चलते बने। सेन साहब और मिस्टर सिंह लॉन की कुर्सियों पर बैठकर बातें कहते रहे। बातों के सिलसिले में ही सेन साहब ने बतलाया कि काशू ने इधर चक्कों से हवा निकालने की हिकमत जान ली थी और मौका मिलते ही शरारत कर गुजरता था। उनका अपना खयाल था, उसकी इन हरकतों को देखकर तो यह साफ मालूम होता था कि इंजिनियरिंग में उसकी अभी से दिलचस्पी है। इसी तरह की दूसरी बेमतलब की बातें होती रहीं जबतक कि चक्कों में पम्प नहीं हो गया और मिस्टर सिंह रुखसत नहीं हो गये।

सेन साहब अन्दर लौटे तो बेयरा को मदन के पिता गिरधरलाल को, जो उनकी फैक्टरी में किरानी था और अहाते के एक कोने में—आउट-हाउस में—रहता था, बुला लाने का हुक्म दिया। गिरधरलाल आया और सेन साहब के सामने सिर झुकाकर खड़ा हो गया जैसे खून के जुर्म में कैदी जज के सामने खड़ा हो। सेन साहब ने ठंढी, थेलौस आवाज में कहना शुरू किया—'देखो गिरधर, मदन आजकल बहुत शोख हो गया है। मैं तुम्हारी और उसकी भी भलाई चाहता हूँ। गाड़ी को गंदा किया वह अलग, मना करने पर ड्राइवर को मारने दौड़ा और मेरे सामने भी डरने के बदले उसकी ओर झपटता रहा। ऐसे ही लड़के आगे चलकर गुंडे और चोर और डाकू बनते हैं।' गिरधरलाल कभी-कभी 'जी' कह देता था। सेन साहब का भाषण जारी था—'उनकी हालत क्या होती है, तुम जानते ही हो। उसे सँभालने की कोशिश करो। फिर ऐसी बात हुई तो अच्छा नहीं होगा; तुम जा सकते हो।'

उस रात गिरधरलाल के क्वार्टर से आती हुई मदन की चीत्कार से सेनों का आरामदेह शयनागार गूँज गया। आराम में खलल पड़ने से कुछ झुँझलाकर पिता सेन ने अपनी धर्मपत्नी से बड़ी समझदारी की बात कही – "गिरधर खुद समझदार आदमी है। उसकी बीवी ने ही लड़के को बिगाड़ दिया है। मदन की यही दवा है। मेरी तो तबीयत हुई थी कि कमबख्त की खाल उधेड़ दूँ। गिरधर ने ऐसी ही कड़ाई जारी रखी तो शायद ठीक हो जाये। 'स्पेयर द रॉड एण्ड स्पायल द चाइल्ड'।"

माता सेन की नींद उचट गई थी। उन्हें मदन की कातर चिल्लाहट से ज्यादा अपने पति की बकबक पर खीझ आ रही थी। लेकिन उन्होंने भी अपनी खीज मदन पर ही उतारी—'कमबख्त कैसा कौए की तरह चिल्ला रहा है। भिखमंगा कहीं का। खोखा की बराबरी करता फिरता है।'

मदन का आर्त्त रुदन रुक गया था। खैरियत थी, उसकी सिसकियाँ सेनों के शयनागार तक नहीं पहुँच सकती थीं।

लेकिन दूसरे दिन तो बिलकुल बेढब मामला हो गया। शाम के वक्त खेलता-

कूदता खोखा बँगले के अहाते की बगलवाली गली में जा निकला। वहाँ धूल में मदन पड़ोसियों के आवारागर्द छोकरों के साथ लट्टू नचा रहा था। खोखा ने देखा तो उसकी तबीयत मचल गई, हंस कौओं की जमात में शामिल होने के लिए ललक गया। लेकिन आदत से लाचार उसने बड़े रोब के साथ मदन से कहा—'हमको ऊ ठो लट्टू दो, हम भी खेलेगा।' दूसरे लड़कों को कोई खास उज्र नहीं था, वे खोखा को अपनी जमात में ले लेने के फायदों को नजर-अन्दाज नहीं कर सकते थे। पर उनके अपमानित, प्रताड़ित लीडर मदन को यह बात कब मंजूर हो सकती थी। उसने छूटते ही जवाब दिया—'अबे भाग जा यहाँ से! बड़ा आया है लट्टू खेलने वाला! है भी लट्टू तेरे? जा अपने बाबा की मोटर पर बैठ!'

काशू तैश में आ गया। वह इसी उम्र में नौकरों पर, अपनी बहनों पर, हाथ चला देता था और क्या मजाल कि उसे कोई कुछ कह दे। उसने आव देखा न ताव, मदन को एक घूँसा रसीद कर दिया।

चोर-गुंडा-डाकू होनेवाला मदन भी कब माननेवाला था। वह झट काशू पर टूट पड़ा। दूसरे लड़के जरा हटकर इस द्वन्द्व-युद्ध का मजा लेने लगे। लेकिन यह लड़ाई हड्डी और मांस की, बँगले के पिल्ले और गली के कुत्ते की, लड़ाई थी। अहाते में यही लड़ाई हुई रहती तो काशू शेर हो जाता। यहाँ से तो एक मिनट के बाद ही वह रोता हुआ जान लेकर भाग निकला। महल और झोपड़ी वालों की लड़ाई में अक्सर महलवाले ही जीतते हैं; लेकिन उसी हालत में जब दूसरे झोपड़ीवाले उनकी मदद अपने ही खिलाफ करते हैं। लेकिन बच्चों को इतनी अक्ल कहाँ। उन्होंने न तो अपने दुर्दमनीय लीडर की ही मदद की, न अपने माता-पिता के मालिक लाड़ले की ही। हाँ, लड़ाई खत्म हो जाने पर तुरत ही सहमते हुए तितर-बितर हो गये।

मदन घर नहीं लौटा। लेकिन जाता ही कहाँ। आठ-नौ बजे तक इधर-उधर मारा फिरता रहा। फिर भूख लगी तो गली के दरवाजे से आहिस्ता-आहिस्ता घर में घुसा। उसके लिए मार खाना मामूली बात थी। डर था तो यही कि आज की मार और दिनों से भी बुरी होगी। लेकिन उपाय ही क्या था। वह पहले रसोईघर में ही घुसा। माँ नहीं थी। बगल के सोनेवाले कमरे से बातचीत की आवाज आ रही थी। उसने इतमीनान के साथ भर-पेट खाना खाया। फिर दरवाजे के पास जाकर अंदर की बातचीत सुनने की कोशिश करने लगा। उसे बड़ा ताज्जुब हुआ—उसके बाबू गरज-तरज नहीं रहे थे। उसकी अम्मा ने कोई बात पूछी, जिसे वह ठीक से सुन नहीं सका, तो उसके बाबू ने झल्लाकर कहा—"अरे भाई, बतलाया तो, साहब ने सिर्फ यही कहा—'आज से मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं। कल सबेरे छोड़ देना और अपनी तनखाह

आफिस से ले लेना।" ... मदन के काम की कोई बात नहीं हो रही थी, उसकी सजा की तजवीज होती रहती तो सुनने की कोशिश भी करता वह।

वह दबे पाँव बरामदे में रखी चारपाई की तरफ सोने के लिए चला तो अँधेरे में उसका पैर लोटे से लग गया। लोटे की ठन् ठन् की आवाज सुनकर गिरधर बाहर निकल आया। मदन की अम्मा भी उसके पीछे थी। मदन चौंककर घूमा और मार खाने की तैयारी में अपनी छाती को अपने हाथों से बाँधकर खड़ा हो गया। मदन अक्सर अपने पिता के हाथों पिटता था, बहुत पिटने पर रोता भी था; मगर बहादुरी के साथ।

गिरधर निस्सहाय निष्ठुरता के साथ मदन की ओर बढ़ा। मदन ने अपने दाँत मींच लिये। गिरधर मदन के बिलकुल पास आ गया था कि अचानक वह ठिठक गया। उसके चेहरे से नाराजगी का बादल हट गया। उसने लपककर मदन को हाथों से उठा लिया। मदन हक्काबक्का अपने पिता को देख रहा था। उसे याद नहीं, उसके पिता ने कब उसे इस तरह प्यार किया था, अगर कभी किया था तो। गिरधर उस बेपरवाही, उल्लास और गर्व के साथ बोल उठा जो किसी के लिए भी नौकरी से निकाले जाने पर ही मुमकिन हो सकता है—"शाबाश बेटा! एक तेरा बाप है, और तू ने तो, बे, खोखा के दो-दो दाँत तोड़ डाले! हा हा हा हा!"......

प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र

सौन्दर्य्यबोध एवं कामप्रवृत्ति

मानव-जीवन कितना सुन्दर एवं विचित्र है। मनुष्य के इस रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय इन्द्रियजगत् में न मालूम कितनी लीलाएँ घटित होती रहती हैं। दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, इन सबका जो द्वन्द्व हमारे जीवन में लगा रहता है उसके कारण ही तो जीवन इतना आकर्षक एवं नित्यनूतन मनोमुग्धकर मालूम होता है। जीवन में जटिलता है, इसलिए ही तो जीवन में एकरसता (Monotony) नहीं है। एक ओर मनुष्य की सहजात पाशव प्रवृत्तियाँ, उसके आदिम संस्कार और दूसरी ओर उसकी ज्ञानविज्ञान की साधना, सभ्यता एवं संस्कृति के मार्ग में उसकी अदम्य जय-यात्रा; इन दोनों के बीच से होकर ही तो मनुष्य की जीवनधाराएँ, उसकी कर्म-प्रचेष्टाएँ अनेक रूपों में प्रवर्तित हो रही हैं। इस अनेक-रूपता एवं जटिलता के कारण ही मानवजीवन इतना महिमशाली बना हुआ है। यदि जीवन में इतनी जटिलता न होती, पापपुण्य एवं सद्-असद् का द्वन्द्व न होता तो मानवजीवन में कुछ भी गौरवास्पद नहीं रह जाता। उसकी जीवनयात्रा-प्रणाली भी पशुजीवन की तरह सरल एवं द्वन्द्वहीन होती।

किन्तु नहीं। मनुष्य इस जगत् में अनन्त ज्ञानपिपासा लेकर जन्मा है। वह सब कुछ जान लेना चाहता है। वह मिथ्या से सत्य की ओर, सत्य से सत्यान्तर की ओर अग्रसर हो रहा है। वह अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता जा रहा है। एक ओर वह अपने गृह-परिवार की मायाममता से, आत्मीय स्वजन के स्नेहबन्धन से आबद्ध है और दूसरी ओर वह अज्ञात एवं अनन्त के सन्धान में अकूल सागर में अपनी जीवननौका को बिना लंगर के छोड़ देना चाहता है। एक ओर वह अपनी आदिम प्रवृत्तियों को स्वीकार करके पशुजीवन व्यतीत करना चाहता है और दूसरी ओर अपनी प्रवृत्तियों को संयत रखकर उनका उन्नयन करके सत्य, शिव एवं सुन्दर की उपासना और जीवन को महिमामंडित करना चाहता है।

मानवसभ्यता को, मानव-संस्कृति को, अपनी जीवनव्यापी साधना के द्वारा जिन महापुरुषों ने इतना ऐश्वर्यशाली बनाया है उन सबने जीवन-देवता की ही आराधना की है, उसी का जयगान किया है। जीवधर्म और उसकी प्रेरणा, नरनारी के पारस्परिक आकर्षण को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस दुःखवेदनापूर्ण अनित्य पार्थिव जीवन का परित्याग करके अपार्थिव अमर जीवन की कामना नहीं की है। असंख्य बन्धनों के बीच उन्होंने महानन्दमय मुक्ति का आस्वादन किया है। अमृत का पिपासु एवं अमरत्व का आकांक्षी बनकर भी उन्होंने इस रूपमय विश्व को ही आनन्दमय, अमृतमय एवं रसमय बनाने की चेष्टा की है। विषामृतमय जीवनरस का रसिक बनकर उन्होंने जीवन में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, भोग एवं संयम, ज्ञान एवं प्रेम, शक्ति एवं सौन्दर्य, आदर्श एवं वास्तव, स्वर्ग एवं मर्त्य के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। जबतक जीवन में यह समन्वय स्थापित नहीं होता तबतक उसका परिपूर्ण विकास संभव नहीं हो सकता। मनुष्य आत्मविकास चाहता है। वह स्थिर होकर नहीं रहना चाहता। स्थितिशीलता नहीं, गतिशीलता उसके जीवन का धर्म है। वह अनन्त पथ का पथिक बनकर अपने चरम लक्ष्य के सन्धान में अपना मार्ग टटोलता हुआ आगे बढ़ रहा है। पथ के बाधा-विघ्नों का अतिक्रमण करके अपना मार्ग प्रशस्त बना रहा है। अपनी जययात्रा में वह पराजय एवं पराभव का, क्लान्ति एवं अवसाद का, कभी बोध नहीं करता। जीवन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग होने के कारण ही तो मनुष्य विघ्नबाधा-संकुल जीवन से घबराकर हतबुद्धि नहीं हो जाता और न गृहसंसार छोड़कर वैराग्य धारण कर लेता है। वह जीवन को क्षुद्र से बृहत्, असुन्दर से सुन्दर, संकीर्ण से उदार बनाना चाहता है। वह जानता है कि द्वन्द्वों एवं संघर्षों के बीच से होकर ही तो जीवन की जययात्रा सफल हो सकती है, मनुष्य के मनुष्यत्व एवं उसके व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास संभव हो सकता है। इसलिए जीवन में सामञ्जस्य रखकर चलना पड़ता है। बिना इस सामञ्जस्यरक्षा के जीवन का परिपूर्ण विकास संभव हो ही नहीं सकता।

मानवजीवन में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, अनुराग एवं विराग, भोग एवं संयम सबके

लिए स्थान है। इनके बीच सन्तुलन रखकर ही हम जीवन को ऐश्वर्यशाली बना सकते हैं। गृहपरिवार के प्रति मोह, आत्मीयजनों के प्रति स्नेहममता एक ओर यदि हमारे जीवन की कर्मप्रचेष्टाओं को गृहजीवन तक ही सीमित बनाती है तो दूसरी ओर समाज एवं राष्ट्र की सेवा के लिए वृहत्तर जीवन का आह्वान हमें गृहजीवन की क्षुद्र परिधि से ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व को अखिल में परिव्याप्त कर देने के लिए प्रेरित करता है। वृहत्तर जीवन के इस आह्वान को सुनकर ही तो मनुष्य ने गृहपरिवार के मोह से, आत्मीयजनों के स्नेहबन्धन से, अपनेको मुक्त करके अपनी व्यष्टिसत्ता को समष्टि-सत्ता में विलीन कर दिया है—समष्टि के कल्याण में ही व्यष्टि के कल्याण का अनुभव किया है। वृहत्तर जीवन के इस आह्वान ने ही राजकुमार को सर्वत्यागी संन्यासी, कवि को कर्मवीर, शिल्पी को विद्रोही और ईश्वरभक्त साधु को स्वातंत्र्य-संग्राम का सेनापति बनाया है। माता की ममता, भगिनी का स्नेह, पत्नी की मनुहार और दुलार तथा सन्तान का मोह एक ओर यदि मनुष्य को गृहपरिवार के पाषाण-प्राचीर के अन्दर आबद्ध करके रखना चाहता है, तो दूसरी ओर महामानव का क्रन्दन, अत्याचार-पीड़ितों का दीर्घश्वास एवं हाहाकार, शोषितों का दैन्य एवं दारिद्र्य उसे गृहपरिवार के अचलायतन को भंग करके अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध खड्गहस्त होने के लिए आकुल किये डालता है। अपने व्यक्तित्व को, अपनी समस्त शक्ति एवं कर्मोद्यम को वह वृहत् जगत् के जीवन-प्रवाह में विलीन करके मुक्त जीवन का आस्वादन करना चाहता है। जो प्रेमबन्धन, जो मोहममता, जो भोगासक्ति अबतक उसके जीवन को क्षुद्र परिधि में आबद्ध रखकर उसकी प्राणशक्तियों को पंगु बनाये हुए थी, वही प्रेम एवं स्नेह अब समाज एवं राष्ट्र के जीवन में परिव्याप्त होकर उसके प्राणों में नितनूतन शक्तिसुरा ढालने लग जाते हैं। जीवन की परिधि विशाल होने के साथ-साथ जीवन ज्यों-ज्यों व्यापक एवं उदार बनता जाता है त्यों-त्यों जीवन में आनन्द की अनुभूति तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। इस प्रकार जिन्होंने जीवन को बन्धनमुक्त कर लिया है उन्हें इस मर्त्यजीवन में ही असंख्य बन्धनों के बीच मुक्त जीवन का महानन्द प्राप्त होता रहता है, उन्हें जीवन कभी शुष्क एवं नीरस प्रतीत नहीं होता और न वे कभी जीवन के प्रति वितृष्णा प्रकट करते हैं।

अपनी सहजात प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्त्री पुरुष परस्पर मिलना चाहते हैं। मनुष्य की समस्त सहजात प्रवृत्तियों में सुखसंभोग की यह प्रवृत्ति सबसे बढ़कर प्रचण्ड एवं उद्दाम होती है। किन्तु मनुष्य ने भोग के साथ संयम का जो महान आदर्श ग्रहण किया है उससे ही तो ज्ञानविज्ञान के राज्य में उसकी साधना सफल हुई है और उसकी सौन्दर्यानुभूति स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवर्तित हुई है। उसकी यह सौन्दर्यानुभूति जब उसके अन्तर के रस से सिक्त होकर आत्मप्रकाश के लिए आकुल हो उठी है, तभी तो कविता, शिल्प आदि ललित कलाओं की सृष्टि संभव होती

है। भोग-वासना की प्रचण्डता से, उसके राहुग्रास से, अपनेको मुक्त करके ही तो मनुष्य ने अमर महाकाव्यों एवं प्राणस्पर्शी गीतों की रचना की है तथा विशाल मन्दिरों एवं स्तूपों का निर्माण किया है। मनुष्य ने प्रकृति के दुरभिगम्य रहस्यों का उद्घाटन करने, अन्तरिक्ष में विचरण करने, जल के अन्दर जलजीवों की तरह तैरने, दुर्गम जंगलों के बीच मनुष्य की बस्ती बसाने, असाध्य रोगों पर विजय प्राप्त करने तथा मरुभूमि में सोने की फसल पैदा करने में जो सफलता प्राप्त की है वह इसलिए ही तो कि उसने अपनी भोगवासनाओं को संयत रखा है।

फ्रायड के इस सिद्धान्त को यदि हम एक तथ्य के रूप में स्वीकार भी कर लें कि मनुष्य के सौन्दर्य्यबोध एवं उसकी रसपिपासा के मूल में उसकी भोगकामना अन्तर्हित रहती है और जो सब वस्तुएँ उसके मन में आनन्द एवं हृदय में रस का संचार करती हैं उन सबमें उसकी दमित भोगकामना का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य परिलक्षित होता है, फिर भी उससे क्या यह प्रतिपादित नहीं होता कि मनुष्य ने अपनी स्थूल कामप्रवृत्ति को नियंत्रित करके उसका उन्नयन (Sublimation) किया है, उसे स्थूल से सूक्ष्म की ओर, भूमा की ओर, प्रवर्त्तित किया है? इसलिए फ्रायड ने जहाँ कामप्रवृत्ति की उद्दामता को स्वीकृत किया है और भोगकामना को हमारे जीवन के समस्त क्रियाकलाप के मूल में अन्तर्लीन बताया है, वहाँ उसने संयम के आदर्श को भी तो स्वीकार किया है। उसने यह तो नहीं कहा कि कामप्रवृत्ति का सब समय चरितार्थ होना ही जीवन के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। फ्रायड ने तो यही कहा है कि काव्य, शिल्प, साहित्य, धर्म आदि में—सर्व प्रकार की ललित कला एवं रसचर्चा में—मनुष्य के चेतन में अन्तर्लीन भोगकामना ही रस एवं सौन्दर्य्य से युक्त होकर एक विशिष्ट रूप ग्रहण करती है। मानव-हृदय की यह सहजात प्रवृत्ति जब उसके सूक्ष्म सौन्दर्य्यबोध से मण्डित एवं उसके अन्तर के रस से सिक्त होकर शिल्पकला में मूर्त्त हो उठती है तब उसका संपूर्णतः उन्नयन हो जाता है। इसमें नग्न सौन्दर्य्य का स्थूल परिदर्शन नहीं होता और न हमारे मन में यह अश्लीलता का उद्रेक करती है। इस प्रकार की रसानुभूति को हम नग्नता एवं अश्लीलता का रूपान्तर नहीं कह सकते। जहाँ केवल नग्नता पर ध्यान रखकर ही साहित्य एवं शिल्पकला की सृष्टि की जाती है वहाँ प्रकृत रसानुभूति एवं सौन्दर्य्य-बोध नहीं हो सकता। प्रकृत रसानुभूति एवं सूक्ष्म सौन्दर्य्यबोध हमारे मन में कदर्य्यभाव उत्पन्न नहीं करते। ललित कला के रूप-रस का स्पर्श-लाभ करके हमारे मन में जो एक विशिष्ट भावावेश उत्पन्न होता है वह हमें नित्य के जीवन की स्वार्थबुद्धि एवं अहंभावना से बहुत ऊपर उठाकर एक ऊर्ध्वलोक में ले जाता है जहाँ हमारी क्षुद्र सत्ता कुछ क्षण के लिए बृहत् सत्ता में लीन हो जाती है। प्रकृत शिल्पकला एवं साहित्य में केवल सुन्दर का ही नहीं, उसके साथ-साथ सत्य एवं शिव का भी प्रकाश होता है। हाँ, इतना

अवश्य है कि यह सत्य इतिहास के सत्य से भिन्न और यह कल्याणबोध धर्मशास्त्रों के आदेशवाक्यों एवं नीतिग्रन्थों के सदुपदेशों से सर्वथा भिन्न होता है। मनुष्य के मन की गति उच्च चिन्ता की ओर होती है—जीवन के महत् आदर्श की ओर। साहित्य एवं शिल्प मनुष्य के भावराज्य में इस महत् आदर्श की ही प्रेरणा उत्पन्न करते हैं, अपने अलौकिक रस-सञ्चार द्वारा उसके मन को निष्पाप करके पवित्र बना डालते हैं, उसके मनोराज्य में देवता का पद्मासन प्रतिष्ठित करते हैं। साहित्य एवं शिल्प-कला द्वारा हमारे मन में जो सौन्दर्य्यबोध जाग्रत् होता है उससे हमें एक अपार्थिव सत्ता की अनुभूति होती है अथवा अनुभूति का अभ्यास होने लगता है। यह अनुभूति कुरुचिपूर्ण नग्नता एवं अश्लीलता के संस्पर्श से सर्वथा मुक्त होती है।

इसलिए फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान (Psycho-Analysis) का यह सिद्धान्त यदि निर्भ्रान्त भी मान लिया जाय कि कवि, शिल्पी, कलाकार आदि अज्ञात रूप में अपनी कामप्रवृत्ति के वेग को असामाजिकता एवं कुरुचिपरायणता की ओर से मोड़कर सुरुचि एवं सदाचार की ओर प्रणोदित कर देते हैं और उनकी इस सुरुचि का प्रकाश हमें उनकी कृतियों में देखने को मिलता है, तब भी काम-वासना को संयत रखने के आदर्श पर किसी भी रूप में आघात नहीं पहुँचता। यह सच है कि अनेक चित्रों एवं मूर्तियों में हमें नग्नता का आभास मिलता है, पुराणों एवं धर्मग्रन्थों में प्रचुर कामायन (eroticism) का उल्लेख पाया जाता है। यहाँ तक कि साधुसन्तों के भूमानन्द या mystic ecstacy की तुलना भी आंशिक रूप में कामतृप्ति के साथ की गई है। मिस्टिसिज्म या रहस्यवाद में जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन को लौकिक भाषा में जो आध्यात्मिक विवाह या spiritual marriage कहा गया है, इन सबके मूल में कामप्रवृत्ति के उन्नयन का ही परिचय हमें मिलता है। किन्तु इनमें किसी को भी हम इन्द्रिय-परायणता अथवा देहविलास नहीं कह सकते। यहाँ सौन्दर्य्यबोध की उच्चतम कल्पना एवं हृदयावेग के कारण कामानुभूति के ऊपर शालीनता का एक ऐसा सूक्ष्मतर आवरण पड़ जाता है जिससे वह रसमाधुर्य्य से मण्डित एक रहस्यमय रूप धारण कर लेता है। यह सौन्दर्य्यबोध एक प्रकार के विशुद्ध, आध्यात्मिक, अतीन्द्रिय आनन्द की भावना हमारे मन में जाग्रत् करता है जो स्थूलभोग की व्यक्तिगत कामना से सर्वथा वर्जित होता है। सौन्दर्य्यबोध के इस उच्च स्तर पर पहुँचकर मनुष्य की अहंभावना विराट् सत्ता में लीन हो जाती है। यहाँ मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक प्रकृति का—विश्वप्राण के साथ अपने प्राणों की एकता का—परिचय मिलता है। चिरसुन्दर के साथ आत्मा के इस मिलन से जिस अविरल आनन्द की उपलब्धि होती है वह आनन्द इन्द्रियभोगजन्य आनन्द से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार के सौन्दर्य्यबोध से जिस विशुद्ध आनन्द की

उपलब्धि होती है, वह वासना, लालसा, दुःख अथवा शोक से भाराक्रान्त नहीं होता। मनुष्य के आत्मविकास एवं आत्मोपलब्धि के लिए यह आनन्द अनिवार्य्य रूप में आवश्यक है। इस आनन्द से वञ्चित होने का अर्थ है आदियुग का बर्बर मनुष्य बन जाना। सौन्दर्य्यबोधजन्य यह आनन्द स्वतः एक साध्य है, किन्हीं अन्य प्रयोजनों की परितृप्ति का साधन नहीं। यह किसी भौतिक आनन्द का आधारस्तम्भ न होकर एक विशुद्ध अपार्थिव आनन्द का उद्बोधक है, जो कुछ समय के लिए हमारी आत्मा को जड़ जगत् के कोलाहल से मुक्त कर देता है। साहित्य एवं शिल्पकला की रसानुभूति से उत्पन्न आनन्द हमें इन्द्रियभोगजन्य स्थूल आनन्द की तरह अभिभूत नहीं करता। वह हमें उदात्त भावना, शुभ प्रेरणा एवं सुमधुर सान्त्वना प्रदान करके बहुत ऊँचा उठा देता है जब कि भोगानन्द हमें क्लान्त, विरक्त उवं अवसाद-ग्रस्त बना डालता है। इन्द्रियभोगजन्य आनन्द में स्थायित्व हो ही नहीं सकता। एकमात्र कलात्मक सौन्दर्य्यबोध द्वारा ही हमें स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है। एक सुसंस्कृत एवं सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति इस सौन्दर्य्यबोधजन्य रसात्मक आनन्द के बिना रह नहीं सकता। उसके जीवन-धारण के लिए, उसके व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए, यह सूक्ष्म सौन्दर्य्यानुभूति उतनी ही आवश्यक है जितना जल, वायु और प्रकाश। रसानुसन्धान एवं रसपरितृप्ति मनुष्य का स्वधर्म है। युग-युग से उच्च साहित्य एवं कलासृष्टि के मूल में यही प्रेरणा काम करती आ रही है। रसानुसन्धान की इस प्रेरणा ने ही मनुष्य को कल्पना एवं भावना के राज्य में सौन्दर्य्य की अमरावती की रचना करने के लिए अनुप्राणित किया है। कामप्रवृत्ति की सर्वग्रासी क्षुधा से अपनेको मुक्त करके ही मनुष्य ने अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी किया है और संस्कृति के प्रोज्ज्वल प्रकाश में अपनेको गौरवशाली बनाया है। जीवन में उसने प्रवृत्ति को स्वीकृत किया है अवश्य, किन्तु इसके साथ ही जीवन में संस्कृति के महत्त्व की उपेक्षा न करके प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का, भोग के साथ संयम का समन्वय स्थापित करना भी सीखा है। यदि मानव-जीवन में यह समन्वय नहीं होता, यदि मनुष्य इन्द्रिय-भोग को—कामवासना को ही सब कुछ समझता, तो आज वह एक भोगपरायण पशु-जीवन के अत्यन्त निम्न स्तर पर होता और यह मानव-जाति के लिए सचमुच परम दुर्भाग्य का कारण होता।

श्री आरसी प्रसाद सिंह

गीत

यह सुरीली चाँदनी तो छेड़ती है
आज मन के तार।
ताल-सा फैला हुआ है व्योम
रुपहरी छोटी तरी यह सोम
यह रसीली चाँदनी तो खे रही है
नाव की मँझधार।

वह रहा दक्षिण-पवन अति मन्द,
गूँजते मधुमास के हैं छन्द;
मुसकुराती चाँदनी यह जा रही है
बादलों के पार।
यह सुधा-मधु-सिक्त आधी रात,
प्राण, बोलो आज मन की बात;
यह भरी-सी चाँदनी भी कर रही है
प्रेम का व्यवहार।

●

पोद्दार रामावतार 'अरुण'

तुम आग-फूल दोनों पर प्रेम लुटानेवाले हो

आँधी आये, बिजलियाँ गिरें अथवा छाये तूफ़ान,
करता हो रह-रहकर असीम आकाश प्रलय-आह्वान;
खण्डित गीतों को जोड़, मिला टूटी वीणा के तार,
मरघट में भी तुम गीत-सुधा बरसाने वाले हो।

२

तुम हँसे, उगा सुरचाप, जलद पर रंगीनी छाई;
बिजली चमकी या वंक भृकुटि की चमकी परछाईं?
शबनम के दर्पण में तुम निज संसार बसा लेते,
सागर की लहरों पर भी तुम मुसकाने वाले हो।

३

अंगार तुम्हारे आँसू हैं, घन-घोष तुम्हारे गान,
भूडोल हृदय का कम्पन है, चाँदनी मधुर मुसकान।
तुम गरल और जल, दोनों से अभिषिक्त इष्ट मेरे,
रूखी डालों में भी प्रसून विकसाने वाले हो।

●

श्रीराधाकृष्ण प्रसाद

चिराग के नीचे

आज तीन साल के बाद बिरजू जेल से बाहर था।

बाहर आकर उसने अनुभव किया कि जेल की हवा में कुछ गर्मी रहती है; बाहर की हवा में नर्मी है और एक अजीब तरह की गंध नथने का स्पर्श कर जाती है। ... कहाँ, कुछ भी उलट-फेर तो नजर नहीं आता! आदमी और बैल एक ही तरह सड़कों पर दौड़ते हैं। कोलतार से पुती सड़कों पर घोड़े की लीद उसी तरह फैली है; सिनेमा के रंग-बिरंगे पोस्टर दीवारों पर उसी तरह चिपके हैं, उनमें हमेशा की तरह एक मर्द एक औरत के मुखड़े की ओर झुका हुआ है। कालेज के लड़के उसी तरह लापरवाही से साइकिल उड़ाते भागे जा रहे हैं और सिपाही उसी तरह भद्दी गालियाँ बकता हुआ गाड़ीवानों से उलझ रहा है! बिरजू के उखड़े-उखड़े मन ने मानों सब देखकर यह तय कर लिया कि यह ससुरी दुनिया हमेशा इसी तरह बुढ़िया बनी रहेगी!

बिरजू के कदम बढ़ रहे थे और वह अपने पैरों को घसीटता फुटपाथ से होकर चला जा रहा था। कहाँ जा रहा था, इसका ज्ञान उसके अचेतन मन में स्पष्ट न था। घर नाम की चीज उसकी जिन्दगी में कभी उतरकर नहीं आई। होश सँभालते ही उसने महसूस किया कि न तो उसके माँ-बाप का पता है, न उसे धरती पर जन्म देनेवाले भगवान ने उसके लिए कहीं आशियाना ही रख छोड़ा है! काला-कलूटा और बेढंगे लम्बे हाथ-पैर लेकर वह लोगों के उपहास और दुत्कार का एक अच्छा केन्द्र था।

संभवतः उसके माँ-बाप सात भाँवर देकर ढोल और मंडप के बीच किसी तोंदीले ब्राह्मण के अशुद्ध रूप से उच्चारण किये गये मन्त्रों के साक्ष्य में पति-पत्नी नहीं हुए थे। संभव है कि उसके माँ-बाप रास्ते के ऐसे दो अनजान मुफलिस औरत-मर्द हों जो किसी वर्षा की रात में आश्रय लेने के लिए किसी सूने खँडहर में आ मिले हों और वहीं उसके जन्म की नींव पड़ी हो।

जो हो, बिरजू होश सँभालने के पहले भिखमंगों की टोली में, जिसमें कोढ़ियों की संख्या अधिक थी, भीख माँगता था और नंग-धड़ंग बाजारों में हलवाई की दूकान पर खानेवाले व्यक्तियों की जूठी पत्तलें चाटकर भूख बुझाता था।

होश सँभालने के बाद न जाने क्यों उसे यह पेशा बुरा लगने लगा और सबसे बुरा तो उसे यह लगा कि वे कोढ़ी भिखमंगे उसे पीटकर उसके बचे-खुचे पैसे छीन लिया करते थे! उस शहर से एक दिन तंग आकर वह भाग आया। रेल पर टिकट-चेकर [illegible]

रहा। रेल घंटों चलती रही। जब उसकी नींद टूटी, उसने अपनेको एक बिल्कुल अनजान शहर में पाया।

उसके बाद की घटनाएँ इतनी उलझी हैं कि घिरजू अधिकांश को भूल चुका है। वह पंखा-कुली बना, एक सस्ते होटल का खानसामा हुआ, एक बंगाली के घर में बर्तन माँजनेवाला टहलुआ हुआ और अन्त में रिक्शा खींचने का पेशा उसने शुरू किया।

यह अन्तिम पेशा सभी पेशों से लाभजनक था और इसमें उसे दो पैसे भी मिलने लगे थे। अपने तीखे-मीठे अनुभवों को तौलकर उसने 'आदमी' बनने की चेष्टा की। जब वह बंगाली बाबू के यहाँ टहलुआ था, उसे वह गन्दगी साफ करने के लिए मजबूर करते थे! जब वह पंखा-कुली था, छोटे-साहब नशे मे धुत होकर उसकी पीठ पर अपनी मुट्ठी का बल आजमाया करते थे और उनकी 'काली मेम' भी बजह-बेबजह उसके गालों पर तमाचे जड़ा करती थी। और, जब वह सस्ते होटल में था, उसे दो-तीन बजे रात तक जागने को कहा जाता था और फिर सुबह छ बजे प्लेटों की सफाई करने का हुकुम मिलता था।

किन्तु अन्तिम पेशा कुछ स्वतन्त्र था और इसमें उसे रोज एक रुपये तक की आमदनी हो जाती थी। वह चाहता था कि अब 'आदमी' बनकर बाल-बच्चों के बीच रहे। 'औरत' नाम की चीज को नजदीक पाने की भूख तभी शुरू हुई जब उसके हाथ में दो पैसे रहने लगे। इसके पहले उसे इतनी फुर्सत कहाँ थी कि औरत के विषय में सोच सके! पहले तो पेट ही भरने में मन बझा रहता था। किन्तु जब पेट भरने लगा, मन में भी कुछ सुगबुगाहट आने लगी। और यह जोश तब और उभरा जब अपने पेशे वाले साथियों के साथ वह 'औरत' की खोज में गन्दी गलियों में भटकने लगा!

घिरजू ऐसी कई औरतों के संपर्क में आया; किन्तु मन हमेशा फटा ही नजर आया। ये औरतें बनावटी मुहब्बत करती थीं और पैसों के लिए ही अपने शरीर को बाजार में बेचती थीं। घिरजू को, न जाने क्यों, यह सब अच्छा नहीं लगा।

कभी-कभी ताड़ी के नशे में अपने साथियों के बहकाने पर वह उधर निकल तो जाता था; किन्तु होश आने पर, न जाने क्यों, पश्चात्ताप और ग्लानि की छाया उसके चेहरे पर उतर आती थी। उसके साथी उसके सामने ही छेड़खानियाँ करते थे; किन्तु वह अपनी ग्लानिभरी आँखें जमीन पर ही गड़ाए रहता था। उसमें कभी यह विश्वास नहीं जमता था कि इस चकले में कोई 'आनन्द' पाया जा सकता है!

किन्तु एक दिन उसे एक ऐसी युवती दिखाई पड़ी जो उसकी दृष्टि में गड़ गई। वह बीस-इक्कीस साल की मुनिया थी। वह सदा डरी-सहमी नजर आती थी। लोगों से घिरजू को पता लगा, पहले यह भीख पर गुजारा करती थी; किन्तु अकाल के कारण भीख मिलना दुर्लभ हो गया है, इसलिए यह शरीर बेचकर पेट भरने को मजबूर हुई

है। उसे देखकर, न जाने क्यों, बिरजू के मन में अपनापन पैठ गया। संभवतः भीख माँगने का जो संस्कार बचपन में जमा था, वह सहानुभूति का रूप लेकर मुनिया के इर्द-गिर्द फैल गया। मुनिया की ओर से भी अपनापन का सोता पिघलता चला आया। बिरजू मानों निहाल हो गया। उसके स्वप्न मानों साकार होने को आये!

मुनिया के अंग-अंग में यौवन का चढ़ाव था। वह साँवली थी; किन्तु उसके रूप में चमक थी। यह चमक एक बाजारू औरत की नहीं दिखलाई पड़ती थी। बिरजू ने पूछा—'मेरे साथ रहेगी?' मुनिया उसके गले से लिपटकर बोली—'मुझे यहाँ से ले चलो। मेरा जी सदा यहाँ रोया करता है। अजीब-अजीब तरह के आदमी आते हैं, अजीब-अजीब ढंग से वे बातें करते हैं। चलो, हम दोनों मिहनत-मजदूरी कर जिन्दगी काट देंगे।' और तब बिरजू मुनिया को अपनी उस दो रुपये वाली तंग गली की छोटी-सी कोठरी में 'मेहरिया' बनाकर ले आया।

उसके जीवन में पहले-पहल आशा और आनन्द की किरणें उतरीं। वह मुनिया को बहू की तरह रखता और मुनिया भी उसकी सेवा उसे पति मानकर ही करती। बिरजू के मन से लापरवाही का भाव हटता गया और जी-जान से वह मिहनत करने लगा। आमदनी में वृद्धि हुई और उस छोटी-सी कोठरी में कुछ सिलसिलेवार चीजें नजर आने लगीं। मगर मुश्किल से यह जीवन वह तीन-चार महीने बिता पाया होगा कि दुर्दिन के बादल सिर पर छा गये।

मुनिया के यहाँ आनेजानेवालों में पूरब का कोई मुछैल सिपाही भी था! वह अक्सर बिना पैसे की चकलेबाजी का आदी था। बेचारी सभी औरतें उससे घृणा करती थीं। किन्तु लाल पगड़ी का प्रताप इतना प्रबल था कि विरोध करने का साहस किसी में नहीं था! नई-नवेली मुनिया पर सिपाहीजी अधिक कृपालु थे और मुनिया जितना ही डरती वह उतनी ही मुस्तैदी के साथ बिदाई के रूप में कुछ टके लेने के भी आदी होते गये। जब एकाएक मुनिया के गायब होने की सूचना उन्हें मिली, उनका चलियत्व जाग उठा। बड़ी मुश्किलों से, तीन महीने बाद, वह अपनी प्रेयसी का पता पाने में समर्थ हुए। बिरजू को बात मालूम थी। मुनिया सहमकर बोली—'वह कलमुँहा सिपाही न जाने कहाँ से फट पड़ा। बोल गया है कि आज रात को आयगा।'

बिरजू के तन में आग लग गई। वह स्वयं छः फीट का लम्बा-तगड़ा जवान था। काली सूरत के भीतर उसका खून और भी लौह-वर्ण का हो गया। बोला—'साले की मूँछें न उखाड़ लूँ तो बिरजू नाम नहीं!' और उसने सचमुच ऐसा कर भी दिखाया। आधी रात को पहरा देने की ड्यूटी (!) में जब वह बिरजू की कोठरी के पास आकर दरवाजा खटखटाने लगे, बिरजू गरजकर लपका—'कौन है?' सिपाहीजी आँखें नचाकर बोले—क्यों रे बिरजू! ...ल ससुरा कोतू उठा क्यों जाया? बिरजू का गुस्सा और भ-

गया। बोला—'देखिए, गाली मत बकिए, नहीं तो ठीक नहीं होगा।' सिपाही जी को पहले तो अपने कानों पर विश्वास ही न हुआ। वह कुछ क्षण तक मुँह बाये खड़े रहे। किन्तु तुरत ही चलियत्व का अपमान असह्य लगा और बिरजू के गले में हाथ देकर बोले—'क्या बकता है बे!' बिरजू तैयार था। डील-डौल में सिपाहीराम से वह बीस ही था। गले में हाथ पड़ते ही वह सिपाही से गुँथ गया और कुछ ही सेकेंड में उसे नीचे पटककर लातजूतों से बेदम कर डाला। शोर सुनकर अगल-बगल के लोग जाग गये और यह अद्भुत दृश्य देखने के लिए वहाँ आधी रात के बावजूद भीड़ जम गई।

सिपाही का गुस्से में बुरा हाल था। धूल झाड़ते हुए, वह भद्दी गालियाँ बक रहा था और शीघ्र ही इसका भरपूर मजा चखाने की कसमें खा रहा था।

इस घटना के तीसरे या चौथे दिन ही उस मुहल्ले में कहीं सेंध पड़ी। बिरजू बाँधकर थाने लाया गया! न्याय ने अपने रक्षकवर्ग पुलिस की गवाही पर उसे तीन साल की कठोर कैद दी!

× × × ×

और आज तीन साल के बाद बिरजू जेल के बाहर था।

बिरजू ने महसूस किया कि इस तीन साल में यह बुढ़िया धरती एक डग भी आगे नहीं बढ़ी है, सब ज्यों-का-त्यों है। जेल से छूटने के पहले वह सोचा करता था, दुनिया बहुत बदल गई होगी। जब वह जेल गया था, समूचे देश में अकाल था; चावल रुपये का डेढ़ सेर भी नहीं मिलता था; जापान अँगरेजी सरकार को हरा रहा था। और, जब वह छूटा, लड़ाई खतम हो चुकी थी। न जाने कौन-सा बम चलाकर अँगरेजों ने जापान को चने की तरह भून दिया था! बिरजू सोचता था, अब चावल रुपये में दस सेर तो जरूर मिलता होगा और धोती भी दो रुपये जोड़ा बिकने लगी होगी। अब वह अपनी मुनिया के साथ आराम से रह सकेगा...। और, घूम-फिरकर उसका मन 'मुनिया' पर आ जाता था। मुनिया अब कैसी होगी?... मेरी साँवली-सलोनी मुनिया! जेल में मुनिया की बड़ी याद आती थी। उसकी याद में वह घंटों समय बिताता था और छूटने पर तरह-तरह के मन्सूबे बाँध रहा था।

उदास मन से चार मील की दूरी तय कर वह अपनी गली में घुस आया। सामने ही उसकी कोठरी थी; किन्तु यहाँ तो कोई दूसरा ही व्यक्ति था! बगल के किसी आदमी ने उसे पहचानकर कुछ अचरज-भरे स्वर में कहा—'अरे तुम बिरजू! जेल से छूट गये क्या?'

'हाँ' बिरजू ने संक्षिप्त उत्तर दिया। वह आदमी कुछ हिकारत-भरी आवाज में बोला—'तुम उस निगोड़ी को उठा लाये थे न! तुम्हारे जाने के बाद वह अपने पुराने पेशे में चली गई। कुतिया की पूँछ कभी सीधी हुई है!

बिरजू बिना कुछ बोले आगे बढ़ गया। उसके पैरों में मानों पंख लग गये। मुनिया से मिलने के लिए उसके प्राण व्याकुल थे।

आज बरसों बाद वह फिर उसी गन्दी गली में था। छोटी और गन्दी कोठरियाँ ज्यों-की-त्यों नंगी खड़ी थीं। ढलते हुए सूरज की किरणें उन कुरूप, भद्दे मकानों पर पड़कर उन्हें और भी मनहूस बना रही थीं। मुनिया की पुरानी कोठरी में कोई अपरिचिता अधेड़ कलूटी थी। बिरजू को वहाँ ठिठकते देख मुस्काई। बिरजू का तो गला सूख रहा था। उसने हकलाते हुए पूछा—'मुनिया कहाँ रहती है?' अधेड़ औरत के ओठों से मुस्कान गायब हो गई। आँखें गड़ाकर कुछ सोचने का प्रयत्न कर वह बोली—'तुम्हारा नाम बिरजू है?' बिरजू ने सिर हिलाया। 'भीतर आ जाओ'—उस औरत के स्वर में थर्राहट आ गई। तिपाई पर बिरजू के बैठ जाने के बाद वह बोली—'मुनिया घावों के रोग से मर गई भैया! अभागी मरते समय तक तुम्हारा नाम जपती रही। तुम्हारे जेल चले जाने के बाद उसने तीन-चार महीने किसी तरह गुजारा किया। बाजारू औरत होने की वजह कोई उसे काम देने को तैयार नहीं होता था! झख मारकर उसे पुराने अड्डे पर जाना पड़ा! किन्तु अभागी को साल-भर के भीतर ही भयावने घाव निकल आये और छः महीने तक नरक का दुःख भोगकर उसने दम तोड़ा...!'

बिरजू मौन था। अधेड़ औरत की आँखें छलछला आईं। फिर बोली - 'मेरे साथ वह कई महीने थी। जहाँतक बन पड़ा, छोटी बहन समझकर मैंने उसकी दवा-दारू की, पर किस्मत के लिखे को कौन टाल सकता है भैया!'

बिरजू लड़खड़ाते पैरों से उठ खड़ा हुआ। वह चिल्लाकर और फूट-फूटकर रोना चाहता था। आजतक कभी फूटकर नहीं रोया, आज मन इसके लिए अधीर हो गया। किन्तु एक औरत के सामने अपनी बुजदिली वह दिखलाना नहीं चाहता था। इसके लिए निपट एकान्त की जरूरत थी। इसलिए वह तेजी से भागना चाहता था।

अधेड़ औरत अपने आँसुओं को पोंछकर गीले स्वर में बोली—'पहली दफा आये हो। कुछ मुँह मीठा करके जाओ भैया!' अन्तर के समुद्र को गले के नीचे दाब, सूखी हँसी ओठों पर लेकर, बिरजू बोला—'आज नहीं बहन, फिर कभी।' और डूबते सूरज की धुँधली किरणों के बीच वह कोठरी के बाहर झपट आया। इस बदहवासी में एक बीमार कुत्ते की जख्मी पूँछ उसके पैरों तले पड़ गई। कुत्ता अत्यन्त करुण स्वर में चीखने लगा और यह चीख गली के मोड़ तक बिरजू के कानों से टकराती रही।

प्रिन्सिपल मनोरञ्जन

दो गीत

कर्मपथ

मैं निरन्तर चल रहा हूँ
कर्ममय है पंथ मेरा

है अँधेरी रात काली
और बादल घिर रहे हैं
मेघ के टुकड़े हवा में
उड़ रहे हैं, फिर रहे हैं
है कभी बिजली चमकती
हैं कभी बादल गरजते
चाँद भी आता गगन में
कण सुधा के गिर रहे हैं

चैन फिर भी दूर मुझसे
चाँदनी हो या अँधेरा। मैं—

शान्त शून्य निशीथ में
श्यामा मधुर जब गीत गाती
कूक से उकसा उषा को
जब नया जीवन जगाती
प्रात की रविरश्मियाँ
जब विश्व में सोने लुटातीं
श्रान्त विह्वल जगत में
सन्ध्या-परी जब शान्ति लाती

शान्ति फिर भी दूर मुझसे
शाम हो अथवा सवेरा। मैं—

चैन की या शान्ति की
सब साध पूरी हो चुकी है
राम के भी सामने
गर्दन न अब मेरी झुकी है
आज गंगा की लहर ले
प्राण ये लहरा रहे हैं
नित्य जीवन में प्रगति है
कब जगत की गति रुकी है

सतत बढ़ता ही चलूँगा
धर हृदय में ध्यान तेरा। मैं—

गंगा की रवानी

हर रोज नये दिन हैं, हर रोज नई रातें
हर रोज सुबह होती, हर रोज नई बातें
मिलते हैं, बिछुड़ते हैं, आते भी हैं, जाते भी हैं
रोते हैं, रुलाते हैं, हँसते भी हैं, गाते भी हैं
यह रोज का किस्सा है, यह नित की कहानी है
रुकती न कभी पल-भर 'जीवन' की रवानी है

है शान्त, कभी चंचल, मस्ती से कभी गाती
बेताब कभी बनकर सैलाब लिये आती
है साफ, कभी गँदली, नित रंग बदलती है
मौजों में उछलती है, आगे बढ़ी चलती है
इसकी जो कहानी है, 'जीवन' की कहानी है
रुकती न कभी पल-भर गंगा की रवानी है

श्रीरामचन्द्र वर्मा

भाषा-संस्कार

अपनी अल्प योग्यता के अनुसार हिन्दी की तुच्छ सेवा करते हुए मुझे चालीस वर्षों से कुछ ऊपर ही हुए हैं। इस बीच में हिन्दी-साहित्य की आशातीत उन्नति हुई है। हिन्दी का जो विस्तार और प्रचार कभी लोगों को स्वप्न में भी न दिखाई पड़ा होगा, वह इस समय प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। शिक्षाविभाग में हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या लाखों तक पहुँच रही है। अ-हिन्दी-भाषी प्रान्तों के निवासी अधिकाधिक संख्या में हिन्दी की ओर अनुरक्त हो रहे हैं। देशी रियासतें भी अपने यहाँ हिन्दी का प्रचार करने में होड़-सी लगा रही हैं। यह तो इस समय का हाल है! जब सारे देश में राज-सत्ता अपने हाथ में आ जायगी, तब हिन्दी की जो उन्नति और प्रचार होगा, उसकी कल्पना आप ही कर लें।

हिन्दी बहुत दिनों से इस देश की राष्ट्रभाषा रही है; और हमें आशा करनी चाहिए कि स्वतंत्र भारत में वह राजकीय क्षेत्र में भी राष्ट्रभाषा का सम्मानपूर्ण पद प्राप्त करेगी। इससे बढ़कर सुख और सौभाग्य की बात हमारे लिए और कौन-सी हो सकती है! यही सोच-समझकर हम लोग फूले अंग नहीं समाते। पर इसके साथ ही हमारा एक दुर्भाग्य भी लगा है। वह यह कि हम प्रायः अनजान में ही अपनी भाषा का स्वरूप नितान्त विकृत और अ-राष्ट्रीय करते जा रहे हैं। हम जिस वेग से हिन्दी की उन्नति और प्रचार कर रहे हैं, प्रायः उससे भी अधिक वेग से हम अपनी भाषा का स्वरूप भी विकृत करते जा रहे हैं। इधर बीस वर्षों का अनुभव हमें बतलाता है कि लोग हाथ धोकर हिन्दी के स्वरूप के पीछे पड़े हैं—उसे सँवारने के पीछे नहीं, बल्कि उसे बिगाड़ने के पीछे पड़े हैं।

डेढ़ वर्ष पूर्व मैंने 'अच्छी हिन्दी' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। उसमें मैंने हिन्दीभाषा के बिगड़ते हुए स्वरूप की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट किया था। मैंने बतलाया था कि हमलोग हिन्दी लिखने में कितने प्रकार की भूलें करते हैं और कितनी तरह से उसका स्वरूप बिगाड़ रहे हैं। पुस्तक में भाषा के सुधार और संस्कार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्नों की ओर भी मैंने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। हिन्दीजगत् में पुस्तक का अच्छा स्वागत हुआ। एक ही वर्ष बाद उसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई। हिन्दी के अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने मेरे विचारों का समर्थन किया। अनेक पत्रों और पत्रिकाओं

ने मेरा प्रयत्न सराहा ; अनेक शिक्षा-संस्थाओं ने उसे अपने यहाँ के पाठ्य-क्रम में स्थान देकर भाषा के संस्कार की उपयोगिता स्वीकृत की। पर यहीं तक पहुँचकर हिन्दी-जगत् ने अपने कर्त्तव्य का आरम्भ भी और अन्त भी कर दिया!

जैसा 'हिमालय' की दूसरी संख्या में 'अच्छी हिन्दी' की आलोचना करते हुए उसके सम्पादक ने लिखा था—"ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर भी सुविस्तृत हिन्दी-संसार में भाषा-परिष्कार की न कहीं चर्चा है, न कोई चेष्टा।" इस उदासीनता का कारण भी आपने उक्त आलोचना में पहले ही इस प्रकार बतलाया है—"यद्यपि अधिकांश आधुनिक लेखक और सम्पादक भाषा-संस्कार पर यथोचित ध्यान नहीं देते, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि वे इस पुस्तक से लाभ उठाने में प्रवृत्त न होंगे; क्योंकि भाषा की शुद्धता एवं सुगमता पर ध्यान रखने की मनोवृत्ति उनमें नहीं देख पड़ती।" और "प्रत्यक्ष लक्षणों से जान पड़ता है कि सतर्क होने के बदले लोग 'भयावह मार्ग' पर स्वेच्छा से आरूढ़ होते जा रहे हैं!" समालोचक की ये बातें अक्षरशः सत्य हैं।

मेरी पुस्तक पर अनेक विद्वानों ने मेरे पास सम्मतियाँ लिखकर भेजी थीं। उनमें से बहुतेरे विद्वानों के पत्रों में लिखा था—'हमने आपकी पुस्तक बहुत ध्यान से पढ़ी।' पर मैं देखता था कि इस 'ध्यान से पढ़ने' का भी स्वयं उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था ; क्योंकि स्वयं उन पत्रों में ही भाषा-सम्बन्धी एक नहीं अनेक भूलें दिखाई देती थीं! मुझे मालूम है कि कई दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों के प्रधान सम्पादकों ने अपने सभी सहायकों आदि से आग्रहपूर्वक कहा था कि आप लोग यह पुस्तक खूब ध्यान से पढ़ें ; और मैं समझता हूँ कि उनमें से अधिकांश ने पुस्तक 'ध्यान से' पढ़ी भी थी। पर मैं आज भी देखता हूँ कि उन पत्रों आदि की भाषा में कहीं नाम को भी सुधार नहीं हुआ! उलटे बिगाड़ दिन पर दिन बढ़ता जाता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका कारण यही है कि लोग कुछ तो एक विशेष प्रकार की भाषा लिखने के अभ्यस्त-से हो जाते हैं ; और कुछ वैसी भाषा लिखने के लिए परिस्थितियों के कारण विवश होते हैं। जहाँ तक अभ्यास का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि उसमें इसी लिए सुधार नहीं हो रहा है कि हमारी 'मनोवृत्ति अभी इस ओर नहीं हो रही है'। हम अपना काम चलाना जानते हैं, भाषा के स्वरूप पर ध्यान देने का कार्य औरों के लिए छोड़ देना चाहते हैं। अनेक अवसरों पर तो हम यह भी नहीं सोचते कि हम जो कुछ लिख रहे हैं, उससे हमारा ठीक-ठीक आशय भी प्रकट होता है या नहीं ; और पढ़नेवालों की समझ में भी कुछ आवेगा या नहीं। तात्पर्य यह कि अभ्यास का जो सुधार हमारे वश में है, हम उसके लिए भी प्रयत्न नहीं करना चाहते। फिर उन परिस्थितियों का सुधार भला हम क्या करेंगे, जो बहुत-कुछ हमारे वश के बाहर हैं!

यों तो कई कारणों से और कई प्रकारों से हमारी भाषा की दुर्दशा होती है ; पर उसकी बहुत अधिक दुर्दशा का मूल और मुख्य कारण एक ही है। वह है अपनी भाषा की प्रकृति से हमारा पूर्ण अपरिचित होना। इसमें जो दूसरा और बड़ा कारण सहायक होता है, वह है हमारे दिमाग में घुसा हुआ हमारा अँगरेजीपन। हमारे यहाँ के स्कूलों और कालेजो में हमारी अँगरेजी की पढ़ाई पर तो बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है, पर मातृभाषा की शिक्षा के प्रति परम उदासीनता दिखलाई जाती है। अँगरेजी की पढ़ाई और पाश्चात्य सभ्यता के सैकड़ों दोषों पर तो हमारा ध्यान जाता है ; पर हमारी भाषा पर उसका जो नाशक प्रभाव पड़ रहा है, उसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम अँगरेजी पढ़ते-पढ़ते अब सोचने भी अँगरेजी में ही लगे हैं। हम अपने ढंग से अपने विचार प्रकट करना भूलते जा रहे हैं और अँगरेजी की भावव्यंजन-प्रणालियाँ ग्रहण करते जा रहे हैं! हममें राष्ट्रीयता का यह भाव तो अवश्य आ गया है कि हमें कोट-पतलून नहीं पहनना चाहिए, कालर-टाई और हैट नहीं लगानी चाहिए। पर अपनी भाषा को अँग्रेजियत से बचाने की हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। हम अपने दिमाग पर छाई हुई अँग्रेजियत के कारण अपने समाज के उस बहुत बड़े अंश की भी असीम हानि कर रहे हैं, जिसे अँगरेजी की कुछ भी शिक्षा नहीं मिली है। हमारे अँगरेजी ढंग के प्रयोग उन लोगों में भी धीरे-धीरे प्रचलित होने लगे हैं जो अँगरेजी बिलकुल नहीं जानते। यह अँग्रेजियत का विष हमारी भाषा के शरीर में दिन पर दिन अधिक मात्रा में प्रविष्ट होता जाता है। हमें यह विष निकालकर दूर फेंकना चाहिए। तभी हमारी भाषा की रक्षा हो सकती है। एक बार जब यह विष हमारी भाषा के शरीर में से निकल जायगा, तब और दृष्टियों से उसे नीरोग, स्वस्थ और विशुद्ध बनाने में हमें विशेष कठिनता न होगी।

इसके सिवा हम न अपनी भाषा के व्याकरण का ध्यान रखते हैं, न प्रकृति का। हमारे वाक्यों के रूप इतने विलक्षण होते हैं कि उनका संशोधन यदि असम्भव नहीं तो परम दुष्कर अवश्य होता है। शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में हमारी असावधानता चरम सीमा तक पहुँच रही है। हम जब जिस शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं, तब बिना इस बात का ध्यान रखे उसका प्रयोग कर जाते हैं कि उससे हमारा अभीष्ट अर्थ निकलता है या नहीं। हम अपने शब्दों और वाक्यों के अर्थों और भावों का ध्यान नहीं रखते। हम कहना कुछ चाहते हैं, पर हमारे वाक्यों से अर्थ कुछ और निकलता है। हम संज्ञा की जगह विशेषण का, विशेषण की जगह क्रिया-विशेषण का और क्रिया-विशेषण की जगह विशेषण या संज्ञा तक का प्रयोग कर जाते हैं। क्रिया-प्रयोगों के सम्बन्ध में हम और भी अधिक असावधान रहते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि हम प्रायः जानते ही नहीं कि किस शब्द के साथ किस क्रिया का प्रयोग होना चाहिए और किस

क्रिया का प्रयोग नहीं होना चाहिए। मुहावरे और बोलचाल का तो हम नित्य गला घोंटते रहते हैं। लिङ्ग-वचन-सम्बन्धी हमारी अशुद्धियों का कहीं अन्त नहीं होता। जहाँ एक ओर हम अपने वाक्यों का अनावश्यक विस्तार करते हैं, वहाँ दूसरी ओर कभी-कभी उन्हें इतना संक्षिप्त कर देते हैं कि उनका कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। विभक्तियों में 'का' की जगह 'से', 'पर' की जगह 'में' आदि लगा चलते हैं। हम नित्य नये शब्द तो गढ़ चलते हैं, पर कभी यह नहीं देखते कि वे शब्द व्याकरण के अनुसार ठीक हैं या नहीं—हमारी भाषा की प्रकृति के अनुरूप हैं या नहीं।

हम नित्य नये संकर यौगिक भी धड़ल्ले से गढ़ते चलते हैं। हम सीधी तरह से 'कांग्रेसअंक' न निकालकर 'कांग्रेसांक' निकालते हैं; हम अँगरेजी का अन्ध-अनुकरण करने के इतने अधिक अभ्यस्त होते जा रहे हैं कि मक्खी की जगह मक्खी बैठाते चलते हैं; 'कफन में कील' जड़ते हैं, दूसरों को मनमानी करने के लिए 'लम्बा रस्सा' देते हैं, अपने विरोधियों के 'मुँह में अपनी बात रखते हैं' और उनके 'प्रचार का मुँह' बन्द करते हैं। और इस प्रकार अपनी भाषा की प्रकृति की हत्या करते चलते हैं। अँगरेजी भावव्यंजन की प्रणालियाँ ही नहीं, बल्कि अँगरेजी के मुहावरे तक हम अपनी भाषा में भरते चलते हैं। हमें यदि कुछ 'माँगना' होता है, तो हम 'माँग करते हैं'। यहाँ तक कि लिख जाते हैं—"वहाँ उन लोगों ने सभा करके अपनी शिकायतों की माँग की।" पर यह नहीं सोचते कि 'शिकायतों की माँग' का अर्थ क्या है। हम लिख जाते हैं—"उन सिपाहियों को आज्ञा दे दी गई है कि वे हर कीमत पर अपनी जगह पर डटे रहें।" इस प्रकार हम मानों यह मान लेते हैं कि हमारी ही तरह सब हिन्दी-पाठक 'at all costs' से अच्छी तरह परिचित हैं। इससे भी बढ़कर भद्दे, दुरूह और कुछ अवस्थाओं में नितान्त निरर्थक वाक्य लिखने में हम हिन्दीवाले जितने सिद्धहस्त हो रहे हैं, उतने शायद और किसी भाषा के लिखनेवाले न होंगे। आपको अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में नित्य इस प्रकार के सैकड़ों और हजारों वाक्य मिल सकते हैं, जिन्हें देखने से पता चलता है कि लेखक ने लिखकर अपने सिर की बला भर टाली है, और उसने यह नहीं सोचा कि जिन पाठकों के सिर यह बला पड़ेगी, उनका क्या हाल होगा!

जब हिन्दी के अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि भाषा की दुर्दशा दिन पर दिन बढ़ती जाती है, तब उसके सुधार का कुछ उपाय होना भी नितान्त आवश्यक है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा और प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन का इस विषय में बहुत बड़ा कर्त्तव्य है, जिसकी ओर से उन्हें उदासीन नहीं रहना चाहिए। स्थान-स्थान पर जो नागरीप्रचारिणी सभाएँ आदि हैं, उन्हें भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। जहाँ-जहाँ हिन्दी के केन्द्र हैं, वहाँ-वहाँ हिन्दी के लेखकों और सम्पादकों को इस विषय में सजग होना चाहिए। कुछ उत्साही साहित्य-सेवियों के

प्रयत्न से काशी में एक भाषा-संस्कार-समिति बनी है, जिसमें पं० बाबूराव पराडकर तथा पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी-जैसे सुयोग्य विद्वान् भी सम्मिलित हैं। इसके कई अधिवेशन हो चुके हैं और उनमें अनेक विचारणीय विषयों पर कुछ सिद्धान्त भी स्थिर हुए हैं, जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार की भाषा-संस्कार-समितियाँ हर नगर में स्थापित होनी चाहिएँ और उनमें सभी प्रकार के साहित्य-सेवियों को सम्मिलित होना चाहिए। सब लोगों को बराबर भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना चाहिए और समिति के अधिवेशनों में उनकी चर्चा करनी चाहिए। वे लोग जिन निष्कर्षों पर पहुँचें, वे समाचारपत्रों में प्रकाशित होने चाहिएँ। सबके सहयोग से एक केन्द्रीय भाषा-संस्कार-समिति बननी चाहिए, जिसके सामने देश-भर के विचार आने चाहिएँ। यदि हो सके तो इस विषय का एक मासिकपत्र प्रकाशित होना चाहिए, जिसमें भाषा-सम्बन्धी जटिल प्रश्नों और समस्याओं पर विचार-विनिमय हो। पत्र-सम्पादकों को भी और लेखकों को भी अपनी-अपनी समस्याएँ सबके सामने विचारार्थ रखनी चाहिएँ। हर साल हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ एक भाषा-संस्कार-सम्मेलन भी होना चाहिए और उसमें अनेक प्रकार के प्रयोगों के सम्बन्ध में सर्वमान्य निर्णय होने चाहिएँ। जब ऐसे निर्णय पुस्तकाकार-प्रकाशित होंगे, तब पुराने लेखकों का बहुत दिनों का अभ्यास भी छूटेगा और नये लेखक भटकने भी न पावेंगे।

अपनी अल्प योग्यता के अनुसार मैं भाषा-संस्कार का कुछ प्रयत्न कर रहा हूँ और आगे भी करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि कुछ प्रमुख पत्रों में भाषा-संस्कार की चर्चा हो। लोगों को भाषा-सम्बन्धी जो दोष दिखाई दें, वे उन्हें सब लोगों के सामने रखें। अशुद्ध शब्दों और प्रयोगों के शुद्ध रूप बतलाये जायँ। जो लोग अपनी मातृ-भाषा का स्वरूप विशुद्ध रखना चाहते हों, वे विचारणीय विषयों पर अपना मत प्रकट करें। यदि 'हिमालय' के सम्पादक आज्ञा देंगे तो मैं 'हिमालय' से ही इसका श्रीगणेश करूँगा।* अशुद्ध प्रचलित प्रयोगों की ओर मैं हिन्दी-लेखकों का ध्यान दिलाऊँगा और यथासाध्य शुद्ध प्रयोग भी बतलाने का प्रयत्न करूँगा। जिन सज्जनों को मेरे बतलाये हुए प्रयोगों और रूपों से अधिक शुद्ध तथा सुन्दर प्रयोग और रूप मिलें, वे कृपाकर या तो सीधे या 'हिमालय' के द्वारा सूचित करें। भाषा के सम्बन्ध में यदि लोग कुछ प्रश्न करेंगे, तो उनके निराकरण का भी प्रयत्न किया जायगा। यदि यह प्रयोग हिन्दीवालों को रुचिकर हुआ और उन्हें इसमें रस मिला तो आशा है कि शीघ्र ही और पत्रों में भी इस प्रकार की चर्चा होने लगेगी। इस प्रकार के प्रयत्नों से हिन्दी का बहुत-कुछ उपकार और मंगल होगा।

इस आवश्यक विषय की ओर शिक्षा-विभाग को भी उचित ध्यान देना चाहिए।

*भाषा-संस्कार-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में 'हिमालय' का हार्दिक सहयोग रहेगा। सं०

जिन-जिन प्रान्तों में हिन्दी की शिक्षा प्रचलित है, उन-उन प्रान्तों में इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि हिन्दी-शिक्षकों को भाषा की शुद्धता का महत्त्व और उसका शुद्ध रूप बतलाया जाय। ऐसी अवस्था में, जब बड़े-बड़े पत्रसम्पादक और सुलेखक भाषा के क्षेत्र में मुँह के बल गिरते हुए दिखाई देते हैं, हम साधारण हिन्दी-शिक्षकों से विशेष आशा नहीं कर सकते। पर जब हम अपने साहित्य में भाषा का आदर्श स्वरूप उपस्थित करने लगेंगे, तब हम शिक्षकों का ध्यान भी इस आवश्यक विषय की ओर आकृष्ट कर सकेंगे। और जब शिक्षकों को भाषा की शुद्धता का पर्याप्त ज्ञान हो जायगा तब उनकी शिक्षा से जो नये विद्यार्थी तैयार होंगे, वे आज-कल की तरह उलूल-जलूल भाषा लिखनेवाले नहीं होंगे। वयस्क लोगों का ध्यान तो भाषा की शुद्धता की ओर आकृष्ट करने की आवश्यकता है ही; इससे भी बढ़कर आवश्यकता इस बात की है कि विद्यार्थियों को आरम्भ से ही शुद्ध भाषा की शिक्षा दी जाय और उनके लिए ऐसी पुस्तकें लिखी जायँ जिनमें भाषा-सम्बन्धी भूलों का विवेचन हो। यदि अभी से इस बात की ओर ध्यान न दिया जायगा और लोग भाषा की शुद्धता और उसके स्वरूप की ओर से उसी प्रकार उदासीन रहेंगे जिस प्रकार अब हैं, तो हमारी भाषा का स्वरूप इतना अधिक भ्रष्ट हो जायगा कि हम उसे पहचान भी न सकेंगे और हमारी भावी सन्तान हमें इस उदासीनता और उपेक्षा के लिए कोसेगी। हिन्दी की विशुद्ध हित-कामना से मैं हिन्दी-जगत् से जो यह विनीत प्रार्थना कर रहा हूँ, उस पर हिन्दीवालों को पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए; और अपनी भाषा का स्वरूप इतना विशुद्ध और कमनीय बनाना चाहिए कि वह सचमुच राष्ट्रभाषा के उपयुक्त हो और जिसके कारण हमारा सिर ऊँचा हो सके; अभी तो हमारा सिर दिन पर दिन नीचा होता जा रहा है!

अच्छी हिन्दी

इसी सप्ताह एक प्रतिष्ठित दैनिक पत्र में पढ़ा था—'इन सब कार्यों के करने का कारण उन अफसरों को बताया जाता है, जिन्होंने साहसपूर्वक सीमा पार करके अगस्त-आन्दोलन को कुचला था।' मैं समझता हूँ कि भाषा-सम्बन्धी बहुत-से दोष एक साथ ही एक छोटे-से वाक्य में भरे होने का यह बहुत अच्छा उदाहरण है। वाक्य के अन्त में अगस्त-आन्दोलन को कुचलने का जो उल्लेख है, उससे पाठक भले ही इस वाक्य का कुछ अर्थ लगा लें; पर यदि इसमें वह उल्लेख न होता तो कदाचित् इसका कुछ भी अर्थ न निकलता। और, जो थोड़ा-बहुत अर्थ निकलता भी, वह वास्तविक अर्थ से बहुत दूर होता।

ऊपर के वाक्य में कई प्रकार के दोष हैं। पर उन दोषों का विचार करने से पहले उस प्रसंग का संकेत कर देना आवश्यक है, जिसमें यह वाक्य आया था। किसी स्थान पर भावी राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने की कुछ तैयारियाँ हो रही थीं; और उन्हीं

तैयारियों के उल्लेख के उपरान्त यह वाक्य आया था। इसमें का 'इन सब कार्यों' वाले पदांश में उन्हीं तैयारियों की ओर संकेत है। 'इन सब कार्यों' के करने का कारण' अच्छी हिन्दी नहीं है। 'इन सब कार्यों' का कारण' से ही काम चल सकता था, 'के करने' इसमें व्यर्थ आया है।

'कारण उन अफसरों को बताया जाता है' ऐसा पद है, जो 'को' के दुरुपयोग का बहुत अच्छा नमूना होने के अतिरिक्त इसी 'को' के कारण बहुत भ्रामक भी हो गया है। 'कारण उन अफसरों को बताया जाता है' से सूचित होता है कि उन कार्यों' का कारण सब लोगों को या सब अफसरों को नहीं बताया जाता; थोड़े-से ऐसे अफसरों को ही बताया जाता है, जिन्होंने अगस्त-आन्दोलन को कुचला था। परन्तु उक्त पद से निकलनेवाला यह अर्थ बहुत ही भ्रामक है। लेखक का वास्तविक आशय यह है कि इन सब कार्यों' के कारण बल्कि ये सब कार्य करनेवाले वे अफसर हैं, जिन्होंने......। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि 'को' के अशुद्ध प्रयोग से कभी-कभी बात कहाँ से कहाँ चली जाती है। 'को' का इस प्रकार का प्रयोग अच्छी हिन्दी का घातक होता है।

अब 'साहसपूर्वक सीमा पार करके' पर आइए। साधारणतः 'साहस' शब्द का प्रयोग वीरतासूचक और अच्छे कार्यों' के सम्बन्ध में ही होता है। हम यह तो कह सकते हैं—'वह अकेला साहसपूर्वक शत्रुओं के दल में घुस गया।' पर यह नहीं कह सकते—'उसने साहसपूर्वक बच्चे को चार गालियाँ सुना दीं।' 'साहस' का प्रयोग हमें वहाँ करना चाहिए, जहाँ कर्त्ता का उद्देश्य हमें 'सत्' जान पड़े अथवा उसके किये हुए कार्य से हमारी कुछ सहानुभूति हो—हम वह कार्य अच्छा समझते हों। तिस पर जब 'साहस' के बाद 'सीमा पार करके' आता है, तब हमारी यह धारणा होती है कि अवश्य वह कार्य बहुत वीरतापूर्ण होगा। इसके सिवा 'सीमा पार करके' ऐसी अँगरेजी बोलचाल का अनुकरण है जो हिन्दी में नहीं खपता। फिर आगे चलकर जब हम पढ़ते हैं—'अगस्त-आन्दोलन को कुचला था' तब हमारी उस धारणा पर एक आघात-सा लगता है। अगस्त-आन्दोलन को कुचलने का कार्य कुछ लोगों की दृष्टि में वीरतापूर्ण और प्रशंसनीय हो सकता है, पर हम जानते हैं कि वाक्य का लेखक उन लोगों में नहीं है। पत्र की परम्परा का ध्यान रखते हुए हम जानते हैं कि वाक्य का लेखक राष्ट्रीय विचारों का है। फिर प्रसंग से हम यह भी समझते हैं कि लेखक उन कार्यों' को गर्हित, निन्दनीय अथवा नितान्त अनुचित समझता है, जिनका वह पहले उल्लेख कर चुका है, और जिनके लिए वह उन अफसरों को दोषी ठहराना चाहता है। पर वाक्य की रचना से इनमें से कोई बात सिद्ध नहीं होने पाती। यह है दूषित वाक्य-रचना का परिणाम!

अब यदि हम इसके मूल तक पहुँचना चाहें, तो यह समझने के लिए हमें विशेष प्रयास नहीं करना पड़ेगा कि उक्त वाक्य या तो अँगरेजी के किसी वाक्य का आँखें

बन्द करके किया हुआ अनुवाद है या दिमाग में छाई हुई अँगरेजी ढंग की 'सोचाई' का दुष्परिणाम है। इन दोनों में से चाहे जो बात हो, पर है वह बहुत बुरी। हमें अनुवाद करना हो तो सोच-समझकर करना चाहिए; और सोचना हो तो अपने ढंग पर सोचना चाहिए। दोनों अवस्थाओं में दूसरों का अन्ध-अनुकरण करके हम पाठकों को भ्रम में डालते हैं, अपनी योग्यता और बुद्धि के दिवालियापन की घोषणा करते हैं; और सबसे बढ़कर अपनी मातृभाषा का स्वरूप विकृत करते हैं।

●

डॉक्टर सत्यनारायण

हिमालय की देन

किसी समय हिमालय के सामने खड़े होने पर उसके प्रति प्रकट किये गये उद्गारों का स्रोत, प्राचीन ऋषियों की सुन्दर छन्दोबद्ध कविता के रूप में प्रस्फुटित हो निकल पड़ा था—"ध्रुवा एव वः पितरो युगे-युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥ (ऋक्—१०–९४–१२)—युग-युग से ये पहाड़ ध्रुव अचल खड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी सब इच्छाएँ परिपूर्ण हो गई हैं। इन्हें कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है। इन्होंने सोम का भोग किया है, जराहीन हैं, हरियाली से भरे हुए हैं और पृथ्वी को मधुर रव से (चिड़ियों के कलगान या पेड़ों की मर्मरध्वनि से) परिपूर्ण करते हैं।"—यह वर्णन उस युग का है जब हमारे पूर्वज आर्य अपने आदिस्थान 'सप्तसिन्धव' में निवास करते थे। उस समय का यह 'सप्तसिन्धव' हिमालय से सटा वही अंचल है जिसे हम आज कश्मीर-पंजाब कहते हैं। वेदों के अनुसार वहीं हमारे आर्य पूर्वज रहते थे। वहाँ के पहाड़, उसकी भूमि, उसकी नदियाँ उन्हें बहुत प्यारी थीं। यहीं उनकी संस्कृति का उदय तथा विकास हुआ था। अवश्य ही, उनकी संस्कृति के इस उदय तथा विकास में हिमालय का बहुत हाथ रहा है। और, हमारी मातृभूमि भी हिमालय की कम ऋणी नहीं है। हमारे देश के उत्तरी भाग के वे सब उर्वर—खादर—प्रदेश, जिनकी गिनती दुनिया-भर के सबसे उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में होती है, हिमालय की ही देन हैं। हिमालय के इन्हीं गुणों के कारण महाकवि कालिदास ने उसे 'अनेक-रत्न-प्रभव' कहा है।

जिस अंचल में मनुष्य निवास करता है वहाँ की प्रकृति का, उसकी आकृति का निर्माण करने में, निस्संदेह बहुत हाथ रहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्राचीन आर्यों की सुन्दर आकृति के गढ़ने में हिमालय का बहुत हाथ दीखेगा। प्राचीन

आर्यों का जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि वे लम्बे, गोरे, सुडौल शरीरवाले थे! आज भी हमें हिमालय के निकटवर्ती पंजाब-कश्मीर-अंचल में वैसे आर्य मिलते हैं जिनकी आकृति उनके पूर्वजों के समान ही बनी हुई है। हमारे देश के अन्यान्य अंचलों के औसत से अधिक डील, गोरा या गेहुँआँ रंग, काली आँखें, दीर्घ कपाल, ऊँचा माथा, लम्बा नुकीला सम चेहरा तथा सीधी नुकीली नाक उनके मुख्य लक्षण हैं। सुन्दर आकृतिवाले हमारे वे पूर्वज अपने जीवन-संग्राम के सिलसिले में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अनवरत चेष्टाएँ किया करते थे। क्षुधा और शीत से अपने शरीर का बचाव करने के लिए उन्होंने बहुत-से आविष्कार किये। हमें अपनी सभ्यता का एक बड़ा अंश वैसे ही सुसंस्कृत वैदिक आर्यों से मिला है, जिनकी चेतना पर स्थूल भौतिक कारणों का प्रभाव प्रधान रहा है।

वेदों में हिमालय के जो वर्णन उपलब्ध हैं उनसे यही पता चलता है कि उसे देखकर हमारे आर्य पूर्वज भयभीत नहीं हुए थे। उस अंचल की प्रकृति उन्हें खून जमा देने वाली विकराल ठंढ के रूप में खड़ी नहीं दिखाई पड़ी थी, बल्कि ठीक इसके विपरीत—हिमालय-अंचल की जिस प्रकृति ने हमारे पूर्वजों को पाला था वह मानवीय शक्तियों के विकास के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। हमारे वे पूर्वज भाग्यशाली थे; क्योंकि हिमालय-अंचल की 'सप्तसिन्धव' वाली प्रकृति उनके लिए माँ की तरह सहृदया थी। वहाँ के वातावरण में उनके लिए अपने को जीवित रख सकने और पेट भर लेने का मामला ही कोई बड़ी समस्या उपस्थित नहीं करता था, बल्कि प्रकृति के सहायिका बने रहने के कारण उन्हें दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत आदि के लिए चित्त की स्फूर्ति भी मिलती थी। जीविकोपार्जन के बाद भी उनको प्रचुर अवकाश मिलता था, जिसे वे ग्रह-नक्षत्रों की क्रीड़ा देखने और इस जगत् के रहस्यों का उद्घाटन करने में लगाते थे। इस क्षेत्र में उनके विकास की गति भी बहुत तेज थी। इसीलिए मानव-इतिहास में वे ही विकास की उस सीमा पर सर्व-प्रथम जा पहुँचे जब कोई भौतिक प्रेरणा नहीं, बल्कि अपने अन्दर की संस्कृति की द्योतक प्रेरणाएँ ही उन्हें बेचैन करने लगीं। अपनी इसी प्रेरणा-द्वारा उन्होंने सबसे पहले एक ऐसे मार्ग का आविष्कार किया जिसपर चलकर हम सब तरह के दुःख भूल जाते हैं और विराट् के साथ ऐकात्म्य अनुभव करते हैं। उनको इस ज्ञान में ही सर्वोच्च कोटि के सच्चे आनन्द का बोध होता था। साथ ही, उसी के सहारे, उन्हें परिस्थिति और वातावरण के साथसाथ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में भी सफलता मिलती थी। उनके विकास के इस सिलसिले और रफ्तार की ओर ध्यान देते ही प्रत्येक बार यह दृष्टिगोचर होने लगता है कि उनकी महान् कीर्त्तियों को संभव बनाने—सफल करने—में हिमालय के उस अंचल की ही प्रकृति का मुख्य हाथ था जहाँ उनलोगों का आदि-निवास था।

आज भी हिमालय के सामने खड़े होने पर हमें दिखाई देती है उसकी ध्यानमग्न योगिराज की मुद्रा। जप के लिए वह नदियों की मालाएँ गले में डाले और हाथों में लिये रहता है। उसके सनातन हिम-मुकुट में हजारों हीरों की चमक रहती है। उसके गगनचुम्बी शानदार शृङ्ग वास्तव में अपनी महत्ता का सानी नहीं रखते। मौसम साफ रहने पर, पचीसों कोस दूर से ही, वे हमें अत्यन्त आकर्षक दिखाई देते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलता है, एक के पीछे दूसरे उत्तरोत्तर ऊँचा मस्तक उठाये, हमें ही देख रहे हैं। उन शृङ्गशृङ्खलाओं का कहीं भी अंत होता नहीं दिखाई देता। जहाँ क्षितिज उनका आलिङ्गन करता है वहाँ वे शाश्वत हिम से ढके रहने के कारण दूध से धुले दीखते हैं। उन पर दृष्टि पड़ते ही हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं। हमें वहाँ विभिन्न मुद्राओं में स्वयं नटराज ही नृत्य करते-से दिखाई देते हैं। कहीं वह मुकट पहने, कहीं जटा बढ़ाये और कहीं शरीर से 'सर्प' लिपटाये रहते हैं। उनके नृत्य के ताल में बजनेवाले यंत्रों की झंकार भी हमें सुनाई देती है। बादलों के वस्त्र वह कभी अंग पर डालते, कभी हवा में फहराते और कभी अपने नीचे बिखेर देते हैं।

समुद्र और हिमालय को, एक दूसरे पर, बादल और वर्षा के रूप में, पानी उछालते और उड़ेलते रहने के जिस खेल के लिए प्रकृति उन्हें प्रेरित किये रहती है उसी से हमारी मातृभूमि का तथा हमारा जीवन-यापन और जीवन-निर्धारण होता है। उसी से हमारे यहाँ की सर्दी, गर्मी और बरसात का—ऋतुओं का—आविर्भाव होता है, हमारी खेती-बारी चलती है और हम जीवन के सुखों का उपभोग करने में समर्थ होते हैं। बादल चाहे जितना भी ऊँचा उठें, हिमालय की गगनभेदिनी विशालता के सामने उन्हें हार माननी ही पड़ती है। उसकी अचल-अटल विशालता के सामने उनका दर्प चूर्ण हो जाता है और वे वर्षा के रूप में आँसू टपकाते लौट पड़ते हैं। कुछ बादलों को हिमालय बंदी बना लेता है—उन्हें हिम के रूप में परिणत कर अपना मुकुट बनाता है, और यह मुकुट उसकी नंगा-पर्वत, केदारनाथ, नंदादेवी, कैलाश, धवलगिरि, गौरी-शंकर, कंचनजंघा-जैसी चोटियों पर चिरशोभित रहता है। फिर गर्मी पाकर जब हिमालय के मस्तक और अंगों का हिम पिघलता है तब उसके महादान का महान् आदर्श ही अनेक प्रवाहों का रूप धारण कर लेता है। वे ही प्रवाह उस महादानी के धन को दोनों हाथों से बिखेरती जानेवाली नदियों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे नदियाँ अपने साथ हिमालय द्वारा दान की गई नई मिट्टी, खनिजतत्त्व और जड़ी-बूटियों तथा वनौषधियों का रस-सार बहाकर लेती आती हैं, जिनसे उन नदियों के इर्दगिर्द के विस्तृत भू-भाग धनधान्य और आरोग्यसुख से सम्पन्न बने रहते हैं। उन्हीं नदियों के द्वारा हिमालय हमारे विभिन्न प्रदेशों को शस्य-श्यामल और विपुलवैभव-सम्पन्न बनाया करता है। दूसरे शब्दों में वे नदियाँ ही हमारी मातृभूमि के अंग की ...

द्वारा हिमालय-प्रदत्त सारी सुखद सामग्री अनायास हमारे पास तक पहुँचती है, और उन्हीं सामग्रियों से हमें जीवन-धारण की शक्ति तथा प्रेरणाएँ मिलती हैं। वास्तव में उन नदियों का, हिमालय से लाया हुआ, संदेश है—हमारे देश का कल्याण। उन नदियों का सौन्दर्य भी अद्भुत है। वे 'नटराज' के नृत्य में ताल की संगति मिलाती चलती हैं। सिन्धु और सतलज तबले के दाँयें-बाँयें-जैसी ध्वनि निकालती चलती हैं। ब्रह्मपुत्र महानद पत्थरों पर प्रहार करता हुआ मानों डंके पर चोट देता चलता है। यमुना और सरयू, गोमती तथा गंगा को बीच में ले, गुनगुनाती और छमाछम थिरकती चलती हैं। इनके साथ-साथ और भी जितनी जलधाराएँ हिमालय के मुकुट, जटा और शरीर से निकलती हैं उन सबके कलगान में हमारी प्राचीनतम अतीत-गाथा के साथ-साथ नये जीवन का संदेश भरा रहता है। हमारी मातृभूमि को जीवन और यौवन ही नहीं, बल्कि अद्भुत सौन्दर्य प्रदान करनेवाला भी हिमालय ही है। थोड़ी देर के लिए यदि हम आकाश में उस ऊँचाई तक पहुँच सकें जहाँ से हमारी मातृभूमि की पूरी आकृति हमारी दृष्टि के सामने आ सके और हमारी दृष्टि उस आकृति की सूक्ष्म बारीकियों के देखने में भी समर्थ हो सके, तो अवश्य ही मातृभूमि को हिमालय द्वारा प्रदान किये गये उस नैसर्गिक सौन्दर्य का थोड़ा-सा आभास हमें मिल सकेगा। वहाँ से हिमालय तथा उससे लगे हुए—हमारे देश की पश्चिमी तथा पूर्वी सीमा के—पहाड़ हमारी मातृभूमि के कंधों पर पड़ी शाल के समान दीखेंगे। माता के मुखमंडल की दाहिनी ओर, हिमालय से जुड़े पर्वतों का ताँता, माता के वक्षस्थल पर झूलती शाल के हिस्से-सा दीखेगा। बाँई ओर यह शाल, कई तह में पंद्रह सौ मील तक पड़ी रहकर, फिर नीचे की ओर झूलती दिखाई देगी। पूर्व दिशा में, हिमालय से कंधा भिड़ाये पर्वत, माता के अंग की पहाड़ी शाल उनकी कमर तक पहुँचा देते हैं। इन अनेक तहवाली विचित्र शाल के पाटों पर भी सुन्दर बेलबूटों की नकाशी दिखाई देगी। कंधे के ऊपरी हिस्से में हिम-रेखा की सफेद धारी लगातार लगी मालूम होगी। उसमें मणि-मुक्ताओं की लड़ी से भी कहीं अधिक चमक और कान्ति दिखेगी। शाल के दोनों ओर लटकनेवाले छोरों में तुषार-रहित पर्वत-मालाओं की सुनहली, रुपहली, हरी, काली और गेरुए रंग की धारियाँ मिलेंगी। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र की धाराएँ उस शाल की एक पतली नीली धारी बनाएँगी। जहाँ इन दोनों नदियों के मोड़-मुहाने हैं वहीं की भूमि को आधुनिक विद्वान् हमारे देश की पश्चिमी और पूर्वी सीमा मानते हैं।

महादान के खयाल से वैसे तो हिमालय का प्रत्येक अंचल ही ख्यात है, फिर भी जिन महान् आदर्शों को लेकर वह इतना ऊँचा उठा है, शायद उनका असली अनंत भंडार उसके मध्यभाग में ही केन्द्रीभूत है। इस भाग से ही मूर्त विषयों की उन्नति के साधन तथा अमूर्त चिन्तन के लिए सब तरह की आवश्यक सामग्री, गंगा अपने पवित्र

प्रवाह में लेकर चलती है और उन्हें गंगोत्तरी से लेकर गंगासागर तक बिखेर देती है। सिर्फ सांसारिक ही नहीं, आध्यात्मिक शक्तियों का उद्दीपन करनेवाली भी गंगा की धारा ही मानी जाती रही है। इसके सम्बन्ध में अन्वेषण करने के बाद आयुर्वेद में कहा गया है—"तृष्णामोहध्वंसनं दीपनञ्च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्—भागीरथी का जल तृष्णा और मोह का ध्वंस करनेवाला, दीप्ति प्रदान करनेवाला तथा प्रज्ञा धारण करानेवाला—बुद्धि को प्रेरित करनेवाला है।" किन्तु गंगा की चर्चा में अनिवार्य रूप से आ जाती है—यमुना। गंगा और यमुना दोनों सगी बहनें-जैसी हैं। सरयू उनकी मुखर सहेली है। जैसे गंगातट ऋषिमुनियों की तपोभूमि और चक्रवर्ती नरेन्द्रों की यज्ञभूमि रहा है, जैसे सरयू-तट रघु और राम का लीलाक्षेत्र है, वैसे ही यमुना तट लीलापुरुषोत्तम कृष्ण की क्रीडाभूमि रहा है। उनकी कोई भी क्रीड़ा बिना यमुना के अपूर्ण रहती है। इसलिए भारतीय साहित्य में जितने रूपों में यमुना का सौन्दर्य-वर्णन किया गया है, और किसी भी नदी का नहीं। कृष्णकेलि के साथ जुड़े रहने के कारण भारतीय नृत्य, संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में भी यमुना ही आदर्श पटभूमि रहती आई है। उसके किनारे के कदम्बवृक्षों के सौन्दर्य की ख्याति तो दूर रही, करील के काँटे भी अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं।

गंगा और यमुना ऊपरी अंचल में बहुत साधारण सोते-सी दीखती हैं। हिमालय की लम्बी-लम्बी भुजाएँ उन्हें अपनी तलहथी पर ले खेलाती मालूम होती हैं। सब तरह की विघ्नबाधाओं को नष्ट करने की शक्ति जब तक उनमें नहीं आ जाती, हिमालय के शृङ्खलाबद्ध शिलाखण्ड उन्हें सुरक्षित रखने के खयाल से संतरी की तरह पहरा देते रहते हैं। जब उनकी धाराएँ पुष्ट हो जाती हैं, तभी हिमालय उनसे दूर हटने लगता है। पर दूर हटते जाने पर भी वह अपना मस्तक ऊँचा उठाये, अपनी लाड़ली कन्याओं की समुद्र तक की यात्रा की प्रगति, शुभचिन्तक के रूप में, देखता रहता है। गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश 'दो-आब' कहलाता है। यही 'ठेठ हिन्दुस्तान' या 'अन्तर्वेद' है। सिर्फ अन्न और फल-फूल की इफरात उपज के लिए ही नहीं, बल्कि महान् भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उद्भव और निर्माण तथा विकास में भी इस प्रदेश का बहुत हाथ रहा है। यहाँ से ही जिस उर्वर अंचल का आरंभ और भी पूर्व की ओर विस्तार पाता गया है, मालूम होता है, उसी की रक्षा की चिन्ता हिमालय को सबसे अधिक रही है। उसने इस प्रदेश की, बड़े ही सुन्दर ढंग से, किलाबंदी की है। उत्तर की ओर से आने के लिए नदियों द्वारा हिमालय की रीढ़ में डाले गये दरार के रास्ते बड़े ही दुर्गम हैं। इन रास्तों से पहाड़ी पशुओं की पीठ पर सामान लाद, साहसी लोगों का छोटा-सा जत्था यात्रा कर सकता है। पर हिमालय और तिब्बत के आवागमन के रास्ते से उनके देशों के साथ सदा सम्बन्ध

नहीं जोड़ा जा सकता। हिमालय के उस पार भी लम्बा-चौड़ा और बीहड़ तिब्बत का पठार है। इस ओर की, हिमालय द्वारा तैयार की गई, जबरदस्त किलेबंदी का ही यह परिणाम हुआ है कि उस ओर से गंगाक्षेत्र पर कोई भी फौजी हमला संभव नहीं हो पाया है। हिमालय के द्वारा सुरक्षित गंगातट को ही सबसे निरापद स्थान मान आर्यों ने भी यहीं अपनी महान् संस्कृति के बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित किये थे। हरिद्वार, प्रयाग और काशी इसी संस्कृति के आज भी बहुत बड़े केन्द्र हैं। इसके सिवा, हिमालय से लेकर समुद्र तक की गंगा की यात्रा में हमें जो प्रदेश मिलते हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व के रहे हैं। इस दृष्टि से देखने पर हमारे देश का कोई भी दूसरा अंचल इसकी बराबरी तक नहीं पहुँच पाता। राम और कृष्ण दोनों की ही लीला-भूमि इसके ही पड़ोसी अंचल रहे हैं। अवध तो राम से भी प्राचीन काल में प्रख्यात रघुओं—सूर्यवंशियों—की भूमि रहा है।

अपनी यात्रा के बीच गंगा जहाँ सीधी पूरब बहती हैं, उनका वह बिचला काँठा ही बिहार-प्रान्त है। इस बिहार में गंगा के ही तट पर बसे 'पाटलिपुत्र' को एक युग में बहुत बड़ा राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनने की मर्यादा प्राप्त हुई थी। इसके सिवा, गंगा तथा उसकी सहायक नदियों के तट पर अनेक वैसे नगर तथा बस्तियाँ हैं जो हमें अपने देश के प्राचीन इतिहास की याद दिला देती हैं। वे हमारे देश की अनेक प्राचीन राजधानियों से भी प्राचीन होने का दावा करती हैं। संक्षेप में, हिमालय की पट-भूमि में ही लोक-पावनी गंगा के साथ-साथ हमारी मातृभूमि का सौन्दर्य खिलता है। हिमालय की छत्रच्छाया में हमारे देश का वही अंचल हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के उद्भव तथा विकास में सबसे अधिक प्रेरणा प्रदान करता आया है। गंगा के साथ-साथ हिमालय ने ही हमारे आर्य-पूर्वजों को वह प्रेरणा दी जिसके बल पर वे महान् भारतीय संस्कृति का विस्तार करने में सफल हुए। उस संस्कृति ने अपनी छत्र-च्छाया में न सिर्फ कैलास से कन्याकुमारी और कामाख्या से द्वारका तक के भारतीय भूखंड के ही, बल्कि भारतीय महासागर के द्वीपसमूह—एशिया के बड़े भाग—पृथ्वी के आधे पूर्वी गोलार्द्ध—के मानव-समाज को आश्रय दिया है। भारतीय संस्कृति की यह व्यापकता, हमारे पूर्वजों की यह कीर्ति, यहाँ तक कि इन्हें संभव बनानेवाली पावन धारा गंगा तक, इस पर्वतराज हिमालय की ही देन हैं।

श्रीपारसनाथ सिंह

खाँ साहब

कहानी दरभंगा की है और वह भी पुरानी। यह लिखी जा रही है महासमर नं० २ के बाद और जिस समय की यह बात है उस समय महासमर नं० १ भी भविष्य के गर्भ में था।

भूकम्प के बाद से सुनता आ रहा हूँ कि दरभंगा जो था, अब न रहा—'वह चौकियाँ बदल गईं, थाना बदल गया।' मालूम नहीं, परिवर्त्तन किस हद तक हुआ है। इतना निश्चित है कि किसी नगर की रूप-रेखा मात्र बदली जा सकती है, उसकी आत्मा नहीं। कायाकल्प हो जाने पर भी, जहाँतक नागरिक जीवन का सम्बन्ध है, दरभंगा आज भी वही दरभंगा होगा जो भूकम्प से बरसों पहले था। उसका हृदय वही होगा—उसकी हृत्तंत्री से निकलनेवाले सुर भी प्रायः वही होंगे।

जब कभी वह पुराना दरभंगा याद आता है तब मेरे एक पड़ोसी खास तौर से आँखों के सामने आ जाते हैं। स्मृतिपटल पर उनकी मूर्ति अमिट रूप से अंकित है। हमारी दुनिया में वह 'खाँ साहब' के नाम से मशहूर थे। यह दुनिया कुछ हद तक व्यवसायियों की, कुछ हद तक छात्रों और अध्यापकों की, और कुछ हद तक मवक्किलों और वकील-मुख्तारों की थी। इसके दायरे में कभी-कभी दूसरे लोग भी आ जाया करते। पर जो कोई 'खाँ साहब' के समागम में आता उससे उनकी गुणगरिमा की दाद दिये बिना न रहा जाता। समालोचकों की बात मानी जा सकती है तो उनमें कुछ दोष भी थे। गुण और दोष के बीच की रेखा इतनी सूक्ष्म है कि मैं स्वयं उसे आसानी से नहीं पहचान सकता। मैं इतना ही कहूँगा कि मेरे चरितनायक में कुछ दोष थे भी तो वे चाँद के धब्बों के ही समान थे।

'खाँ साहब' का पूरा नाम तो जरा लम्बा-चौड़ा था, पर तिवारी-जैसे लँगोटिया यार को उन्हें 'महबूब' के ही नाम से पुकारने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। उनका जन्म जौनपुर जिले के एक ऐसे पठान-कुल में हुआ था जो गजनी और गोर से सिलसिला मिलानेवालों में था। पर कुलीन पठान होते हुए भी वह अपना पहनावा बराबर हिन्दुओं का-सा ही रखते—मुसलमानी लिबास में तो उन्हें लोगों ने इनेगिने मौकों पर ही देखा होगा। उनकी उम्र का बहुत कम लोगों को पता था। तिवारी से पूछने पर भी कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिलता। स्वयं 'खाँ साहब' किसी के जिज्ञासा करने पर इतना ही कहते कि मेरी सेहत से—मेरे बालों से पूछ लो। लेकिन काफी

अच्छी थी और वालों की गवाही यह थी कि उनकी उम्र पचास से ऊपर न थी। पर तिवारी उनके खिज़ाब की तारीफ करते हुए कहते कि महबूब की दाढ़ी और जुल्फों का रंग काला देखते-देखते मेरे अपने बाल सफेद हो चले।

'खाँ साहब' के वालिद ठेकेदार की हैसियत से दरभंगा आये और अपने कुछ रिश्तेदारों के साथ स्थायी रूप से वहीं बस गये। यह इस प्रान्त में रेल-निर्माण का युग था। जब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक, रेल का जाल बिछना शुरू हुआ तब इसका एक फल यह हुआ कि ठेकेदारी के पुराने व्यवसाय में नया बल आ गया। अँगरेज इंजीनियरों के लिए, ठेकेदार अन्धे की लकड़ी का काम करने और पूँजी तथा डाली लगाने की क्षमता के हिसाब से पुरस्कृत होने लगे। कुछ समय बाद, यहूदी पूँजीपति लार्ड राथ्सचाइल्ड के आर्थिक सहयोग से बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे-कम्पनी की स्थापना हुई और उत्तर-बिहार में काफी बड़े पैमाने पर रेल-रूपी आधुनिक सेतु का निर्म्माण होने लगा। और ठेकेदारों की तरह, उसी निर्माण-कार्य्य में भाग लेने के लिए, खाँ साहब के वालिद भी उधर जा पहुँचे और दरभंगा को अपने कार्य्यक्षेत्र का केन्द्र बना लिया।

इनमें से अधिकांश ठेकेदारों की भाषा भोजपुरी थी और वे अपनी खास संस्कृति के साथ अपनी पुरानी लाठियाँ, पुराने गतके—और कुछ लोग पुरानी तलवारें भी अपने साथ लेते गये थे। धीरे-धीरे ये ठेकेदार एक जमात या संघ के रूप में संगठित हो चले थे, यद्यपि उसकी ओर से किसी तरह के कागज़ी घोड़े दौड़ाने की बात कभी किसी के दिमाग में न आई। संघ के प्रत्येक सदस्य का सबसे बड़ा कर्तव्य यह होता कि वह उसकी एकता की रक्षा के लिए हर तरह तैयार रहे। जमात के भीतर लड़ाई-झगड़ों की कमी न थी; पर बाकी दुनिया का मुकाबला करना होता तो वह उन्हें भूल-सी जाती और अपनी एकता की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ही रहती।

ठेकेदारों के संगठन में एक प्रकार की परिपूर्णता थी, अर्थात् चाहे जैसा प्रसंग, चाहे जैसी परिस्थिति सामने आ जाय, जमात के तरकश में हर तरह का निशाना मारने लायक तीर मौजूद थे। मान लीजिए कि दीवाली की रात को जूआ खेलते समय किसी कोठीवाल ने किसी ठेकेदार की मानहानि कर दी और जमात ने इसका जवाब देना निश्चित कर लिया; तो ऐसी स्थिति में न तो सुयोग्य सेनापति का ही अभाव था, न ऐसे अगिया-बैतालों का जो उसके आदेश से सरे-बाजार उस कोठीवाल की पगड़ी उछाल दें। मैंने देखा तो नहीं, सुना था कि ऐसे कई मौकों पर भोजपुरी जवानों के नारों से शहर के कुछ बाजार—कुछ गलियाँ गूँज उठी थीं। अगर कभी बात आगे न बढ़ पाई तो इसका रहस्य यह बताया जाता कि या तो शत्रु ने उनके पहुँचते-पहुँचते आत्मसमर्पण कर दिया या कुछ [illegible] लोगों ने बीच-बचाव से उससे

पहले ही समझौता हो गया। मान लीजिए कि लाठी या तलवार की जगह—दोनों से प्रबल शस्त्र—कलम चलाने की जरूरत आ पड़ी, तो ऐसे मौके के लिए लब्धप्रतिष्ठ लेखक बाबू हनुमान प्रसाद जी मौजूद थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार समझा जाता था। मेरे अध्यापक भी उनका लोहा मानते और कहते कि यह जब कभी कुछ लिखने बैठते हैं तब कलम तोड़ देते हैं। वह खुद इतना ही कहते कि जब किसी को संजीवनी बूटी की जरूरत पड़ती है तब वह हनुमान को याद करता है। उनका नियम था कि डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर से नीचे दर्जे के अधिकारी को भेजने के लिए किसी आवेदनपत्र में हाथ न लगाते। शब्दसलिल के छींटों से किसी 'ओवरसियर' की क्रोधाग्नि को शान्त कर देना—अपनी तर्क-शक्ति से किसी 'सुपरवाइजर' द्वारा की हुई आपत्तियों को निराधार ठहरा देना—यह काम और अर्जीनवीसों का था।

मान लीजिए कि किसी वकील के घर पर होनेवाले मुशायरे में जमात का प्रतिनिधित्व आवश्यक हो गया—खासकर उस अधिवेशन में जो दिल्लीवाले पंडित जगन्नाथ कौल-जैसे उर्दू के विद्वान् के आगमन के उपलक्ष में ठेकेदारों की आर्थिक सहायता से हो रहा हो। सर्वसम्मति से इस कार्य के सम्पादन के लिए खाँ साहब भेजे जाते और कहना अनावश्यक जान पड़ता है कि हर बार वह अपना फर्ज इस खूबी से अदा कर आते कि अपने जानकारों की निगाह में कुछ उठकर ही रहते। कभी-कभी ऐसी समालोचना जरूर सुनने में आती कि उनकी शेरवानी भवौंए के पास पहुँच गई; मगर उस पर कोई ध्यान न देता। खाँ साहब के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह होती कि वह ऐसे मौके पर, औरों की तो बात ही क्या, दिल्ली और लखनऊ के भी रोब में न आते और किसी से दबकर दरभंगा का पानी जाने न देते। गरज यह कि जमात का संगठन इस दृष्टि से हुआ था कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति यथासंभव आप ही कर सके। ऐसी पूर्ति करनेवाले या तो स्वयं उसके सदस्य थे या उन सदस्यों के सेवक और सहायक। जमात में शिक्षित लोग बहुत कम थे, फिर भी उसमें विद्वानों का आदर था—उसके सदस्य साहित्य, संगीत और कला के संरक्षक थे। जहाँ जमात के अपने सिपहसालार और मीरमुन्शी थे वहाँ अपने ही महामहोपाध्याय और शम्स्-उल-उलमा भी थे। अलंकारशास्त्र की दृष्टि में यह कोई दोष न हो तो मैं इतना और कहूँगा कि धोबी, कुम्हार और इत्रफरोश भी उस जमात के अपने ही थे।

उसके सम्बन्ध में कुछ और बातें कहने की हैं।

किसी भी कारोबार को चलाने के लिए पूँजी आवश्यक है, चाहे वह अपनी संचित हो चाहे दूसरों से उधार ली हुई। ठेकेदारी भी इस नियम से नियंत्रित थी। उस समय सूद पर किसी प्रकार का सरकारी या गैर-सरकारी प्रतिबन्ध न था। फी सदी दो रुपये माहवार की दर किसी को विशेष आपत्तिजनक न जँचती और सूद-दर-सूद का

सिद्धान्त तो दुनिया के बुनियादी उसूलों में माना जाता। इसमें सन्देह नहीं कि ब्याज की यह दर बेहद ऊँची थी। इसके बोझ से कितने ही दब गये—चक्रवृद्धि के चक्कर में पड़कर कितने ही घर बरबाद हो गये। हाँ, महाजनों की ओर से इतना जरूर कहा जा सकता था कि जो रकम वे उधार देते उसका एक अंश डूबे बिना न रहता। जोखिम से बचने के लिए उन्हें सूद की सतह काफी ऊँची रखनी पड़ती थी। इस प्रसंग में मुझे 'बाबू टप्पू सिंह' जी की याद आती है। यह उनका असली नाम न था, पर पूरब-बंगाल या आसाम में कहीं उन्होंने एक बार अपनेको इसी नाम से प्रसिद्ध कर कुछ बड़ी रकम पर हाथ मारा था। यत्किञ्चित् लाभ करानेवाले कल्पित नाम तो और कई थे। संक्षेप में, उनकी कार्य्यप्रणाली यह थी—जहाँ शिकार करने का निश्चय हुआ वहाँ अपने अनुचरों के साथ पहुँचे और काफी बड़े पैमाने पर ईंट पथवाना शुरू कर दिया। चारों तरफ यह प्रचार किया जाने लगा कि रेल-निर्माण का एक बहुत बड़ा अध्याय इसी स्थान के आसपास आरम्भ होनेवाला है और यह तैयारी उसी की भूमिका है। बात की बात में बाबू टप्पू सिंह मशहूर हो गये—हवा बँधने से बाजार में साख जम गई—कई जगह खाता खुल जाने पर उन्होंने 'इधर से लेना, उधर देना'—यह काम जारी कर दिया। फिर एक दिन, सबसे बड़े इंजीनियर से मिलने के लिए प्रस्थान करने का बहाना कर, वह चल दिये और फिर वहाँ लौटने का नाम न लिया। उनके जाने के बाद उस थैली के और चट्टे-बट्टे भी एक-एक कर चम्पत हो गये और सबके सब कहीं दूर जाकर फिर उसी इतिहास की आवृत्ति करने लगे। पर ऐसे 'अलीबाबा और चालीस चोरों' से पाला पड़ने पर महाजनों की जो क्षति होती उसकी पूर्ति वे और असामियों से करा लेते—ऐसे कर्जदारों से जो पाई-पाई हिसाब चुका देनेवालों में थे। कुछ पाठकों के लिए यह बात अचम्भे की हो सकती है। उनकी जानकारी के लिए इतना कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि बट्टेखाते की कमी उन्हीं लोगों को पूरी करनी पड़ती है जो नादिहन्द नहीं होते—जो कभी स्वप्न में भी टाट उलटने का नाम नहीं लेते। मरने, आग लगने या अन्य दुर्घटना घटने से होनेवाली हानि की पूर्ति अगर ऐसे लोग न किया करें जो जिन्दा और सही-सलामत हैं—जिनपर किसी तरह की आँच नहीं आई है, तो आर्थिक जगत् में बीमा नाम का कोई व्यवसाय ही न रहे।

उन ठेकेदारों की एकता जितनी बहिर्मुखी थी उतनी अन्तर्मुखी नहीं; इसकी ओर ऊपर इशारा किया जा चुका है। पर उनके घरेलू झगड़े बराबर एक सीमा के भीतर ही रहते थे। उन लोगों के सामाजिक जीवन को देखकर कोई यह न कह सकता था कि उसकी तह में कहीं पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष या लड़ाई-झगड़े भी मौजूद थे। दूसरी विशेषतापूर्ण बात यह थी कि उस जीवन-रूपी वस्त्र का ताना-बाना हिन्दू और

मुसलमान दोनों से ही बना हुआ था। जो विषवृक्ष इस समय नजर आ रहा है उसका बीज लार्ड मिण्टो बो चुके थे; पर यह अंकुर के रूप में कहीं था भी, तो दरभंगा-निवासी कम से कम ठेकेदार-मंडली अभी इससे परिचित नहीं हुई थी। फलतः उस जमाने के हिन्दू और मुसलमान, एक पत्तल में खानेवाले न होते हुए भी, सच्चे भाईचंद-से रहते—सुख में परस्पर अकवार भरते और दुख में एक दूसरे के आँसू पोंछते। हाँ, शिष्टाचार-सम्बन्धी नियम आज से कुछ भिन्न थे। इसका कारण संभवतः यह था कि उन लोगों के शिष्टाचार में जितनी स्वाभाविकता थी उतनी कृत्रिमता नहीं। सभ्यता की दिशा में आगे बढ़ने का अर्थ है स्वाभाविकता को पीछे छोड़ते जाना। ठेकेदार-मंडली वर्तमान सभ्यता से दूर—और उस हद तक—स्वाभाविकता के पास थी। उस जमात में हँसी का अर्थ था ठहाका या अट्टहास—वह चीज नहीं जिसे आजकल मृदुहास या मुस्कान कहते हैं। इसी प्रकार रोने का अर्थ था आर्तनाद करना—सिसकना या आँखों में आँसू भर लाना नहीं।

मुझे जो दरभंगा याद है वह निर्माण-महायज्ञ की पूर्णाहुति के बाद का दरभंगा था—जब रेल में कोई नवीनता नहीं रह गई थी और लोग उसके विस्तार से सम्बन्ध रखनेवाली बीती बातों के संस्मरण इस टीका-टिप्पणी के साथ सुनाने लग गये थे—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार,
अब अलि रही गुलाब में अपत कँटीली डार!"

इस विषय में खाँ साहब की भी सम्मति कुछ ऐसी ही थी। प्रसंग छिड़ने पर कहते—"जो जमाना मेरी आँखों से गुजर चुका है वह कभी लौटने का नहीं। पहले के अँगरेज दिल के बादशाह होते थे। जिसपर ढलते उसका दामन अशर्फियों से भर देते। हमलोग मिट्टी देते और बदले में चाँदी लेते। जहाँ ईंटों का एक थाक काम में लगता वहाँ ग्यारह का दाम चुकता। आधा अफसरों को दे देने पर भी बहुत बड़ी बचत होती थी। अब तो गुल में खार ही खार है। अफसर लेना जानते हैं, देना नहीं जानते।"

जब लहर की ज्वार के बाद उसका भाटा शुरू हुआ तब कुछ ठेकेदारों ने तो पूरब की राह ली और कुछ कलकत्ता सिधारे, पर बाकी वहीं दरभंगा बस गये—यह कहकर कि जहाँ दिन कटा है, ईश्वर वहीं रात भी कटा देगा।

"शेख काबा में, कलीसा में बरहमन बैठे;
हम तो कूचे में तेरे मार के आसन बैठे।"

इस प्रकार आसन मारकर बैठनेवालों में खाँ साहब के वालिद भी थे, यद्यपि सत्य के अनुरोध से कहना पड़ता है कि ठेकेदारों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद उस लहर का

उतार शुरू होने से पहले ही हो चुका था। खाँ साहब उसकी कहानी यों सुनाते—"मेरी देखरेख में एक नदी के आरपार पुल बँध रहा था। वहाँ डाक को पार उतारने के लिए सरकार की ओर से नाव का इन्तजाम था। मैं मनमौजी ठहरा, जब जी चाहता, उस नाव को अपने काम में ले आता। इससे कभी-कभी डाक पार उतरने में कुछ देर हो जाती और इसकी शिकायत कलक्टर के कानों तक जा पहुँचती। एक दिन का ज़िक्र है कि मैं नाव लेकर कुछ दूर निकल गया। रेती पर रासलीला होने लगी। मजदूरिनों के बीच कुँअर-कन्हैया बना हुआ मैं उनसे झूमर गवाने और खुद ताल देने लगा। लौटने पर मालूम हुआ कि डाक को वहाँ पहुँचे चार घंटे हो चुके थे। प्याला भरते-भरते इस बार छलक पड़ा। कलक्टर साहब वालिद को बुलाकर लाल-पीले हुए। मेरे दुश्मन तो यह कहते आये हैं कि उन्होंने हमलोगों का नाम भी ठेकेदारों की फेहरिस्त से खारिज कर दिया, मगर असलियत यह है कि मैंने खुद जोर देकर वालिद को उस मैदान से हट जाने के लिए मजबूर किया। मैं इस नतीजे पर पहुँच गया था कि ठेकेदारी बहुत की, अब और बड़े कामों को हाथ में लेना चाहिए। अगर मैं ठेकेदार बना रहता तो मोती जरूर रोल लेता, मगर जो चीजें मुझे बहरे-इल्म में गोते लगाने से मिली हैं वे कभी हाथ न लगतीं।"

मैंने कभी यह पूछने की धृष्टता नहीं की कि वह चीजें क्या थीं। मेरे लिए इतना ही काफी था कि खाँ साहब—बच्चे, जवान, बूढ़े—सबके हमजोली थे और उनकी झोली में हरएक के लिए कोई न कोई तोहफा मौजूद रहता था। अवश्य ही मैंने उन्हें कभी किसी किताब के पन्ने उलटते न देखा। पर हो सकता है, वह ज्ञानप्राप्ति के लिए और ही तरीके काम में लाते रहे हों; हो सकता है, वह सबकी नजर बचाकर उस समुद्र में गोते मारते रहे हों। इतना तो उनके विरोधियों को भी मानना पड़ता था कि साहित्य और जीवन दोनों के सम्बन्ध में उनकी जानकारी असाधारण थी। भले ही उस ज्ञान की गहराई विशेष न रही हो, पर वह इतना विस्तृत था कि बिना किसी प्रकार के श्रम या साधना के हो खाँ साहब उसे पा गये थे, यह मानने को मैं आज भी तैयार नहीं हूँ। लेकिन वह अपनी बहुज्ञता का रहस्य यह बताया करते कि वह इस मुल्क को, एक छोर से दूसरे छोर तक, अपनी आँखों देख चुके थे, इसका हँसना-रोना अपने कानों सुन चुके थे। जब हमलोग कौतूहलवश यह जानना चाहते कि वह कहाँ-कहाँ जा चुके थे, तब वह कम से कम दो दर्जन शहरों के नाम गिना जाते और तुर्रा यह कि जिसके विषय में आग्रह कीजिए उसके इतिहास, भूगोल और सामाजिक गठन पर ऐसा प्रकाश डालते जो हम सबके लिए बिलकुल नई चीज होती। कलकत्ता में लम्बाचौड़ा मैदान था, आलीशान इमारतें थीं। बम्बई के पैर समुन्दर की लहरों से पखारे जाते थे। पर खाँ साहब की दृष्टि में ऐसी बातें विशेष महत्व रखनेवाली

न थीं। उनका कहना था कि शहर की पहचान शहरियों से होती है—उसके 'सर्वसाधारण' से, उसकी आबादी के औसत से।

प्रश्न—तो इस कसौटी पर कौन-सा शहर सबसे खरा उतरा ?

उत्तर—मुझे तो आदमियत या शराफत जैसी मेरठ में नजर आई वैसी और कहीं नहीं। इसलिए मैं तो चोटी का शहर मेरठ को ही मानता हूँ। हाँ, स्कूल में तुम्हें तो किताबें पढ़ाई जाती हैं, उनमें यह बात नहीं मिलने की।

प्र०—वजह ?

उ०—वजह यह कि किताब लिखने वाले अक्सर कुँएँ के मेढक होते हैं। वे न कभी अपने कूचे से बाहर निकलते हैं न उन्हें बाहरी दुनिया का पता चलता है। यहाँ तो ऐसे मेढक भरे पड़े हैं। जब मैं उन्हें जयपुर की यह खूबी बताता हूँ कि वहाँ एक चौराहे से सारा शहर देखा जा सकता है, तब यह बात किसी के जी में जँचती नहीं। मैं उनसे कहता हूँ कि इसकी सचाई में शुबहा है तो वहाँ जाकर देख लो। मगर जाना-आना तो मेरी तरह जेब खाली करने से ही हो सकता है—इसके लिए कोई तैयार नहीं।

अपनी बहुदर्शिता और बहुज्ञता के फलस्वरूप खाँ साहब को जो यश, सम्मान या प्रशंसा प्राप्त थी वह कूपमंडूकमण्डली के थोड़े-से लोगों को असह्य थी। इसलिए, समय-समय पर, इनके द्वारा उनका मान-महत कम करने की कुचेष्टा की जाती। कभी पीठ पीछे, यह कहा जाता कि उनका ज्ञान गहरा नहीं, छिछला था। कभी यह कि वह रत्न-प्राप्ति के लिए समुद्र में डुबकी लगानेवाले नहीं, बल्कि किनारे बैठकर छलनी में बालू चालनेवाले थे। और, कभी कानाफूसी के जरिये यह प्रचार किया जाता कि जिस 'भारतभ्रमण' को वह अपनी दिग्विजययात्रा बताया करते वह एक काल्पनिक घटना थी—वास्तव में, मुल्ला की दौड़ मस्जिद थी, तो उनकी लंबी से लंबी दौड़ जौनपुर! पर जनता कान की कच्ची न थी, इसलिए वह बराबर सुनी अनसुनी करती गई और खाँ साहब की जो धाक बँध चुकी थी, बँधी रही। उन्हें कलंकित करने के लिए सचेष्ट रहनेवाले कुचक्रियों की दाल कभी गलने न पाई। [शेषांश आगामी बार]

●

संस्मरण

श्रीस्वामी भवानीदयाल संन्यासी

दक्षिण अफ्रिका में हिन्दी-प्रचार

मैंने जर्मिस्टन में मजदूरी करते हुए भी सार्वजनिक क्षेत्र में ग्रंथ-लेखन के सिवा एक और काम किया और वह था—ट्रांसवाल-हिन्दी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी-रात्रि-पाठशाला और हिन्दी-पुस्तकालय की स्थापना। हर रविवार को सभा का साप्ताहिक

अधिवेशन होता था और उसमें प्रवासी भारतीयों में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता पर विशेष रूप से चर्चा की जाती थी। हिन्दी-रात्रि-पाठशाला मेरे ही घर पर चलती थी। शाम को छः से आठ बजे तक करीब पचास बच्चों को हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। जब सोने की खान में मेरी रात की पारी आती, मेरी पत्नी 'जगरानी' और मेरे अनुज देवीदयाल पढ़ाई का काम सँभाल लेते थे। नवयुवकों में हिन्दी-प्रचार करने के विचार से फुटबॉल-क्लब खोला गया था। खेलकूद की ओर तरुणों की विशेष अभिरुचि और प्रवृत्ति होती है। अतएव हिन्दी-फुटबॉल-क्लब भारतीय युवकों में हिन्दी-प्रचार का अच्छा साधन बन गया।

ट्रांसवाल में हिन्दीभाषियों की हालत देखकर मेरी हैरानी की हद न रही। हिन्दी उनके लिए 'ग्रीक' और 'लेटिन' बन रही थी तथा 'अंग्रेजी' एवं 'अफ्रिकान' उनकी घरेलू बोली। अपनी मातृभाषा हिन्दी के प्रति नई पीढ़ी की यह उपेक्षावृत्ति देखकर मैं अत्यन्त चिन्तित हो उठा। सोचने लगा, किन उपायों से उनमें हिन्दी के लिए अनुराग पैदा किया जा सकता है? यदि यही हालत बनी रही तो उनकी हस्ती ही मिट जायगी। संसार का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जिसकी भाषा मर जाती है उसकी राष्ट्रीयता नहीं बच सकती। यदि देश राष्ट्र का शरीर है तो भाषा है उसकी आत्मा।

मुझे यह देखकर और भी दुःख होता कि हमारे देशवासी हर वक्त ट्रांसवाल की बोअर-प्रजा के सम्पर्क में आते हैं, उनकी ही भाषा में उनसे बातचीत करते हैं और उनका अपनी भाषा के प्रति अनुराग एवं अभिमान देखकर दंग रह जाते हैं, फिर भी न तो अपनी हालत पर कुछ गौर करते हैं और न उनसे कुछ सबक सीखते हैं। वहाँ के बोअर, जो हालैण्ड और जावा से वहाँ जा बसे हैं, अब दक्षिण अफ्रिका को ही अपनी मातृभूमि मानते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी कौम का नाम 'बोअर' से बदल कर 'अफ्रिकेनर' (Afrikaner) रख लिया है और अपनी मातृभाषा का नाम 'डच' से बदलकर 'अफ्रिकान' (Afrikaan)। वास्तव में यह 'अफ्रिकान' भाषा है तो हालैण्ड की डच-भाषा ही, किन्तु बोअरों के सैकड़ों वर्ष दक्षिण अफ्रिका में बीत जाने और हॉलैण्ड से सम्बन्ध टूट जाने के कारण उनकी भाषा का रूप बहुत-कुछ बदल गया है। 'अफ्रिकान' में अभी साहित्य का नितान्त अभाव है। बायबल का भाषान्तर तो अभी हाल में प्रकाशित हो सका है। इस अवस्था में भी अपनी भाषा पर बोअरों की विलक्षण ममता है। वे घर में और बाहर सर्वत्र अपनी भाषा का उपयोग करते हैं। अंग्रेजी से तो उनको घोर घृणा है। यदि राष्ट्रवादी बोअरों का वश चले तो वे दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेजी का नाम-निशान मिटा डालें; पर चूँकि दक्षिण अफ्रिका की संहति के 'नेटाल' और 'केप' प्रदेशों में अंग्रेजों की बहुत बड़ी आबादी है, इसलिए राजकाज में अंग्रेजी एवं अफ्रिकान दोनों का समान स्थान और

चलन है। 'अफ्रिकान' देश-भर में चल पड़ी है। इस शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में स्वर्गीय जनरल हर्टजोग की राष्ट्रीय सरकार ने यह फरमान निकाला था कि दक्षिण अफ्रिका की संहति के सभी प्रान्तों के प्रत्येक राजकर्मचारी को तीन महीने के अन्दर 'अफ्रिकान' सीख लेना चाहिए या इस्तीफा दे देना चाहिए, अन्यथा वह नौकरी से हटा दिया जायगा। यूनियन-पार्लियामेण्ट में अफ्रिकान का ही बोलबाला है—सभी राष्ट्रवादी सदस्य इसी भाषा में बोलते हैं। अफ्रिकान के ज्ञान बिना पार्लियामेण्ट की कार्यवाहियाँ समझना आसान नहीं है। राष्ट्रवादी बोअर तो अंग्रेजों को भी उपदेश देते हैं कि अंग्रेज यदि अफ्रिका को अपनाना चाहते हैं और उसे एक शक्तिशाली देश बनाना चाहते हैं तो उनको इंगलैण्ड और 'इंगलिश' से नाता तोड़ अमेरिका के अंग्रेजों की भाँति 'अफ्रिकेनर' बनकर 'अफ्रिकान' को अपनी मातृभाषा बना लेना चाहिए।

जब गिरमिट लिखकर भारतीय मजदूर दक्षिण अफ्रिका जाने और वहाँ आबाद होने लगे तब उनके सामने परस्पर विचार-विनिमय की विकट समस्या पैदा हुई। गिरमिट की गाँठ में तो बँधे थे केवल हिन्दीभाषी और मद्रासी। उनके पीछे-पीछे गुजराती तथा कुछ अन्यप्रान्तवासी भी व्यवसाय के विचार से स्वतंत्ररूपेण वहाँ जा पहुँचे। इस प्रकार हिन्दुस्थान के विभिन्न प्रान्तों के मनुष्यों का वहाँ जमावड़ा हो गया। उनमें कोई हिन्दी बोलता था तो कोई गुजराती, किसी की बोली तामिल थी तो किसी की तैलगू, कुछ मलयालम-भाषी थे तो कुछ कनाड़ी-भाषी। एक दूसरे की बोली समझ नहीं पाता था, इससे कामकाज में बड़ी अड़चन होने लगी। कबतक पड़ोसी के सामने मौन साधे रहते—कहाँ तक इशारे से काम लिया करते? यह स्थिति तो बहुत अवांछनीय थी। आपस में बातचीत करने के लिए एक सार्वजनिक या सर्वोपयोगी भाषा का सवाल सामने आया, जिसे उन्होंने बड़ी सुगमता से हल कर लिया। इस बात पर विचार करने के लिए न कहीं सभा-सम्मेलन की बैठक हुई थी, न विद्वानों की वक्तृताएँ और न किसी प्रकार की सार्वजनिक चर्चा ही। प्रत्येक भारतीय ने व्यक्तिगत रूप से अपने मन में प्रस्ताव पास कर लिया कि विभिन्न-भाषा-भाषियों से बातचीत करने के लिए हिन्दी से ही काम लेना चाहिए। हिन्दी अपनी सरलता के प्रताप से प्रवासी भाइयों की राष्ट्रभाषा बन गई! नेटाल में मद्रासियों की संख्या सबसे अधिक है और हिन्दीभाषियों की संख्या है उनसे बहुत कम। पर मद्रासियों के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्यतः आवश्यक हो गया। तामिल और तैलगू द्रविड़-भाषाएँ होने के कारण आर्यभाषा (हिन्दी) से नितान्त भिन्न हैं, फिर भी मद्रासी भाइयों को हिन्दी सीखने में देर न लगी। कोई तो बहुत अच्छी बोल लेता है और कोई टूटी-फूटी हिन्दी, पर बोल लेते हैं सभी। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि केवल दक्षिण अफ्रिका ही नहीं, प्रत्युत जिन जिन उपनिवेशों में [illegible] देशवासी

गिरमिट की प्रथा में गये हैं, यद्यपि वे एक दूसरे से हजारों कोस दूर हैं, कोई प्रशान्त महासागर के तट पर हैं तो कोई हिन्दमहासागर के किनारे, कोई अमेरिका के दक्षिणी भाग में हैं तो कोई अफ्रिका के दक्षिणी भाग में, तो भी यह देखकर विस्मय होता है कि उन सभी देशों के प्रवासी भारतीयों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए एक मत से हिन्दी को ही स्वीकार किया—उसी से अपनी तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति की। पर विषाद की बात है कि यह स्थिति टिकाऊ न हो पाई। उनकी अगली पीढ़ी की मनोवृत्ति में परिवर्तन दिखाई देने लगा। जिन प्रवासी बच्चों को पादरियों की पाठशालाओं में पढ़ने का अवसर मिला उनके दिल और दिमाग का नक्शा ही बदल गया। उन पर अंग्रेजी का ऐसा रङ्ग चढ़ा कि वे आपस में अंग्रेजी बोलना बड़प्पन समझने लगे और अपनी मातृभाषा में बातचीत करना असभ्यता का लक्षण! फिर भी पुराने और अपढ़ भाइयों तथा गृहदेवियों से व्यवहार करने में उनको भी लाचार होकर मातृभाषा का सहारा लेना ही पड़ता था। पहली पीढ़ी में जो कुछ कोर-कसर रह गई थी, वह दूसरी और तीसरी पीढ़ी में बिलकुल मिट गई। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होता गया और अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या बढ़ती गई, त्यों-त्यों हिन्दी की आवश्यकता घटती गई। अब तो यहाँ तक नौबत आ पहुँची है कि भाई बहन से, पति पत्नी से और पिता पुत्र से अंग्रेजी बोलने में संकोच नहीं करता है। यह मानसिक गुलामी राजनीतिक गुलामी से कहीं अधिक भयंकर है; पर इस स्थिति के लिए प्रवासियों पर दोष मढ़ना कहाँ तक उचित और न्यायसंगत होगा? विदेशों के वातावरण में पलने के कारण यदि उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ कुंठित हो गईं तो यह दुःख की बात अवश्य है; पर उससे भी अधिक दुःख तो यह देखकर होता है कि स्वयं हमारे हिन्दुस्थान में ही लोग दास्य मनोवृत्ति का पोषण और रक्षण कर रहे हैं। भारत के बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक अंग्रेजी में व्याख्यान देते हैं, गण्यमान्य ग्रन्थकार और लब्धप्रतिष्ठ लेखक अंग्रेजी में लिखते हैं, अग्रगण्य अखबार अंग्रेजी में निकलते हैं, शिक्षा-संस्थाओं में अंग्रेजी का आधिपत्य है और यहाँ तक कि हमारी राष्ट्रीय महासभा का नाम भी अंग्रेजी 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' है। शिक्षित भारतीयों पर अंग्रेजी का ऐसा गाढ़ा रङ्ग चढ़ गया है कि अपनी भाषा के प्रति न माया रही न ममता। अंग्रेजी में सोचना, बोलना, लिखना और सारा काम चलाना उनके जीवन का लक्ष्य, ध्येय और जन्मजात अभ्यास बन गया है। क्या दिमागी गुलामी का ऐसा दृष्टान्त दुनिया में और कहीं मिल सकता है? जब स्वदेश में ही हमारी यह सन्तापजनक स्थिति है तब विदेशों में इससे अच्छी स्थिति की आशा करना मृगतृष्णा के सिवा और क्या होगा? खैर, चाहे जो कुछ हो, पर दक्षिण-अफ्रिका-प्रवासी भारतीयों की तत्कालीन स्थिति मेरे लिए तो समस्या हो रही। मैं उनके जीवन की धारा पलट देना चाहता था, पर

महाकवि तुलसीदास की उक्ति 'मम मति रङ्क मनोरथ राऊ' मुझ पर ठीक-ठीक घट रही थी। मन में बड़ी-बड़ी तरंगें उठतीं, पर मेरी आर्थिक अवस्था के कगारों से टकरा कर गिर जातीं। मैंने छोटे पैमाने पर ट्रान्सवाल में हिन्दी-प्रचार का जो काम आरम्भ किया था, उसका सन्तोषप्रद परिणाम देखकर मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। हिन्दी-प्रचार का काम ट्रांसवाल तक ही सीमित रखना मुझे ठीक न जँचा; अतएव मैंने सारे दक्षिण अफ्रिका में हिन्दी-प्रचार की योजना बनाई। सोचा कि काम शुरू कर देने पर खर्च के लिए धन का इन्तजाम हो ही जायगा। रहा मेरा निजी ऋण चुकाने का सवाल, जो 'इमिग्रेशन केस' के कारण मेरे सिर चढ़ गया था, सो मैंने (स्वर्गीय) श्री बद्री अहीर को, जिन्होंने मुकदमा लड़ने के लिए मुझे पैसे दिये थे, ग्रीनउड-पार्क (नेटाल) की अपनी एक पैतृक जमीन देकर कर्ज से छुट्टी पा ली। इस प्रकार व्यक्तिगत चिन्ताओं से मुक्त होकर मैंने सोने की खान की नौकरी छोड़ दी और अपना सारा समय हिन्दी-प्रचार में लगाने का संकल्प कर लिया।

सन् १९१५ ई० की जनवरी में मैंने ट्रांसवाल से नेटाल के लिए प्रस्थान कर दिया और नेटाल के सर्वोपरि नगर 'डरबन' को अपने कार्यों का केन्द्र बनाया। दक्षिण अफ्रिका की संहति के नेटाल-प्रान्त में ही प्रवासी भारतीयों की सबसे अधिक आबादी है। उन दिनों नेटाल में भारतीयों की संख्या डेढ़ लाख थी, जिसमें अस्सी हजार तामिल एवं तेलगू भाषावाले, दस हजार गुजराती और साठ हजार हिन्दीभाषी थे। पाँच साल मैंने नेटाल और ट्रांसवाल में लगातार हिन्दी-प्रचार का काम किया। इस दरम्यान जर्मिस्टन, न्युकासल, डेनहाउसर, हार्टिङ्गस्प्रुट, ग्लेंको, बर्नसाइड, लेडीस्मिथ, ग्रिनेन, जेकब्स आदि शहरों और कस्बों में हिन्दी-प्रचारिणी सभाएँ और हिन्दी-पाठशालाएँ खुल गईं। इन सभाओं को एक केन्द्रीय मंडल के अन्तर्गत संगठित करने के विचार से 'दक्षिणीय अफ्रिका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की मैंने स्थापना की, जिसका पहला वार्षिकाधिवेशन लेडीस्मिथ में और दूसरा पीटरमेरिसबर्ग में बड़ी धूमधाम से हुआ था। 'डरबन' नगर के अन्तर्गत क्लेरइस्टेट में मैंने हिन्दी-आश्रम भी बनवाया। इसमें हिन्दी-पुस्तकालय, हिन्दी-विद्यालय और हिन्दी-मुद्रणालय की व्यवस्था की गई। मेरे पास लगभग एक हजार पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था, वह मैंने हिन्दी-पुस्तकालय को दे दिया। इस संग्रह में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न विषयों के चुने हुए ग्रंथ थे। मेरे तबतक के जीवन की वही सर्वोत्तम सम्पत्ति थी। उन ग्रंथों के एकत्र करने में मैंने काफी मेहनत और खर्च किया था। उत्साहवश मैंने अपना ग्रन्थ-संग्रह दान तो कर दिया, पर उस भूल के लिए मुझे बहुत पछताना पड़ा। जब सन् १९१९ में हिन्दी-आश्रम को प्रबन्ध-समिति के हवाले कर मैं वहाँ से चला गया, तब पुस्तकों की ऐसी लूट मची कि उनमें से एक भी न बचने पाई! प्रबंध-समिति

के सदस्य ही इस लूट के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार थे। आश्रम में जो हिन्दी-विद्यालय था उसका संचालन-सूत्र जगरानी ने ग्रहण किया। विद्यालय में शिक्षा निःशुल्क थी। जगरानी आसपास के बालक-बालिकाओं को एकत्र कर बड़े प्रेम से पढ़ातीं और उनके साथ मातृवत् बर्ताव करतीं। उनके वात्सल्य और स्नेहपूर्ण व्यवहार-कौशल से विद्यालय की अच्छी उन्नति हुई। उस समय हिन्दी में एक अखबार का अभाव मुझे बहुत अखर रहा था। भारतीय भाषाओं में कई अखबार निकल भी रहे थे, पर हिन्दी में एक भी नहीं! महात्मा गान्धी का 'इंडियन ओपिनियन' और एम० सी० आँगलिया का 'इंडियनन्यूज', दोनों गुजराती-अंग्रेजी के साप्ताहिक थे। श्री दादा ओसमान का मासिक 'क्रेसण्ट' भी गुजराती का गौरव बढ़ा रहा था। तामिल में भी दो साप्ताहिक निकल रहे थे—एक श्री० पी० एस० अय्यर का 'अफ्रिकन क्रानिकल' तामिल-अंगरेजी में और दूसरा श्री सी० वी० पिल्ले का 'विवेकभानु' केवल तामिल में। एक हिन्दी ही ऐसी भाषा थी, जिसमें कोई पत्र-पत्रिका नहीं थी। सत्याग्रह के समय 'इंडियन ओपिनियन' में जो हिन्दी का अंश जोड़ा गया था वह भी हिन्दी-ग्राहकों का अभाव बताकर निकाल दिया गया। उन्हीं दिनों 'इंडियन ओपिनियन' का एक विशेषाङ्क—सुनहला अङ्क (Golden Number)—निकला था। उसमें अंग्रेजी, गुजराती और तामिल को तो जगह दी गई; पर हिन्दी इस सौभाग्य से वंचित रखी गई। हिन्दी की यह उपेक्षा मेरे दिल पर गहरी चोट कर गई और मैंने इसका खुल्लमखुल्ला विरोध भी किया। फलस्वरूप मैंने आश्रम से 'हिन्दी' नामक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा तो कर लिया; पर यह कोई आसान काम तो था नहीं। इसमें केवल व्यक्तिगत सेवा की ही नहीं, काफी धन की भी जरूरत थी। पर मेरी तो यह अटल धारणा है कि संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो सच्ची लगन से उद्योग करने पर सिद्ध न हो। मैंने हिन्दी-प्रेस के लिए हिन्दी के टाइप, मशीन आदि सामग्रियाँ जुटा भी ली थीं; पर दुर्भाग्यवश आश्रम के ट्रस्टियों में परस्पर मतभेद हो गया जिससे मेरे मन की मुराद मिट्टी में मिल गई। आश्रम बनवाकर मैंने पाँच ट्रस्टियों के नाम से रजिस्ट्री करा दी थी। भारतीयों के स्वभाव में यह बहुत बड़ा दोष है कि वे व्यक्तिगत मतभेद को व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रखते, प्रत्युत उसे सार्वजनिक संस्थाओं में भी ला घुसेड़ते हैं। आश्रम के एक ट्रस्टी श्रीलालबहादुरसिंह और मेरे अनुज देवीदयाल से आपस में कुछ झगड़ा हो गया। यद्यपि उस विग्रह के दोनों फरीक ट्रांसवाल की एक ही बस्ती में रहते थे और मैं था उनसे सैकड़ों मील दूर नेटाल में, अतएव उस कलह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि सिंहजी ने मेरे भाई का बदला मुझसे चुकाने का निश्चय कर लिया, और मुझे अकारण नीचा दिखाने के विचार से उस आश्रम को ... उचित समझा, जिसके वह

स्वयं भी एक स्तम्भ थे। उन्होंने पहले तो जोहान्सबर्ग के प्रसिद्ध वकील श्री० एल० डब्ल्यु० रिच के द्वारा नोटिस भिजवाकर मुझपर रोब जमाने की कोशिश की; पर जब मैंने रिच को साफ जवाब दे दिया कि 'यहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं' तब तो सिंह जी और भी बौखला उठे। उनमें बात बनाने की विलक्षण शक्ति थी, साधारण लोगों को बहकाना और उल्लू बनाना उनके बाँयें हाथ का खेल था। ट्रांसवाल के अनेक गरीब आदमियों की आत्मा उनको शाप दे रही थी; पर किसकी मजाल जो उनके मुँह पर कुछ कह सके या उनकी बात मानने से इनकार कर सके। सच बात तो यह है कि देवीदयाल का आत्म-सम्मान ही सिंहजी के क्रोध का कारण बन गया था। जब वकील रिच ने उनको यह सलाह दी कि मेरे विरुद्ध अदालत में कोई कारंवाई करने की गुंजाइश नहीं है, इसलिए उनको आश्रम के ट्रस्टियों और प्रबन्ध-समिति के सदस्यों की सभा करके आपस का मतभेद मिटा देना चाहिए, तब सिंहजी डरबन पहुँचकर लगे मेरे विरुद्ध प्रचंड प्रचार करने। येनकेनप्रकारेण मुझे जनता की दृष्टि से गिराना और सार्वजनिक क्षेत्र से मार भगाना ही उनके प्रचार का एकमात्र लक्ष्य था। उनको 'अपनी चिलम सुलगाने के लिए दूसरे का झोपड़ा जलाने' में कोई संकोच न हुआ। उन्होंने अपने वकील रिच को नेक सलाह को ठुकराकर आश्रम के ट्रस्टियों और मैनेजिङ्ग-कमिटी के सदस्यों की सभा बुलाने के बजाय सार्वजनिक सभा का आयोजन कर डाला। पर कवि के कथनानुसार—"स्रवन सुन्यो नयनन लख्यो, या में संसय नाहिं ; कूप खनै जो आन को, परे आपु तेहि माहिं"—उस सभा में उलटे सिंहजी पर ही जनता की ऐसी फटकार पड़ी कि लेने के देने पड़ गये। उन्होंने सोचा था कुछ ; पर हो गया कुछ और ही। सभा छोड़कर जो नौ-दो-ग्यारह हुए तो फिर नेटाल में उनके दर्शन ही दुर्लभ हो गये। उन्होंने फिर कभी मुझसे छेड़छाड़ करने की गुस्ताखी नहीं की। आश्रम का सारा भार मुझपर छोड़कर किनारा कस गये! और, इस विग्रह का परिणाम यह हुआ कि मैंने हिन्दी का अखबार निकालने की जो योजना बनाई थी और उसे कार्यान्वित करने के लिए साधन भी जुटाये थे, सब व्यर्थ हुए। मेरा बना-बनाया महल ढह पड़ा। मैं आहें भरकर रह गया। उन्हीं दिनों 'डरबन' से हिन्दी में एक साप्ताहिक अखबार निकला था। उसके अध्यक्ष थे श्री रखलाराम भल्ला। आर्यसमाजी होने के कारण भल्लाजी ने अमर शहीद पं० लेखराम की पुण्यस्मृति में अपने अखबार का नाम 'धर्मवीर' रखा था। सन् १९१२ में 'दक्षिणीय अफ्रिका हिन्दू-महासभा' की जो परिषद् स्वामी शंकरानन्द जी (स्वर्गीय) की अध्यक्षता में हुई थी, उसी में भल्ला जी ने एक अखबार निकालने की प्रतिज्ञा की थी। यद्यपि उन्होंने अखबार निकालने के लिए मुद्रणालय का पूरा प्रबन्ध कर लिया था तथापि हिन्दी-भाषियों की हीन दशा देखकर आर्थिक हानि की आशंका से कार्यारम्भ करने में वह

हिचक रहे थे। जब मैंने नेटाल में लगातार हिन्दी का प्रचार किया और हिन्दीभाषी जनता में नवजीवन का संचार हो आया तब भल्लाजी का भय जाता रहा, उनका हौसला बढ़ गया। उन्होंने इस सुअवसर को हाथ से निकल जाने देना अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए घातक समझा और फौरन् अपना अखबार निकालकर हिन्दी-संसार पर अधिकार जमाने की ठान ली। इस प्रकार सन् १९१६ के प्रारम्भ में 'धर्मवीर' प्रकाशित हुआ। वह साप्ताहिक-रूप में नियमपूर्वक निकलने लगा। निकल तो गया, पर उसके सम्पादन में भल्लाजी को बड़ी दिक्कत होने लगी। वह उर्दू पढ़-लिख सकते थे, पर हिन्दी के तो अक्षरज्ञान से भी वंचित थे। इस लिए वह पत्र के निमित्त जो कुछ लिखते सो उर्दू में और उनके साथी श्री मेहरचन्द नागराचर में उसकी नकल कर प्रेस को दिया करते थे। इसी ढंग से सम्पादन-कार्य होता था। प्रवासी भारतीय हिन्दी पाठक उर्दूमर्था भाषा समझ ही नहीं पाते थे। एक और त्रुटि भी पाठकों को बहुत खटकती थी। पत्र में संसार की सामयिक समस्याओं की कोई चर्चा ही नहीं होती थी, केवल पुराने ढर्रे के धार्मिक लेखों और गाथाओं से वह भरा होता था। वास्तव में भल्लाजी कोई पत्रकार तो थे नहीं, उनका जीवन वाणिज्य-व्यापार में बीता था। इसलिए पाठकों को यदि पत्र अरुचिकर और निस्सार जँचता था तो आश्चर्य ही क्या। मैं भी पत्र की नीति से सहमत न था, पर हिन्दी में एकमात्र पत्र होने के कारण उससे मेरी हमदर्दी अवश्य थी। सन् १९१६ में उसका जो 'ऋषि-अङ्क' निकला था उसे सर्वाङ्गसुन्दर बनाने में मैंने पूरी सहायता पहुँचाई थी। जब आश्रम से अखबार निकालने का मेरा संकल्प शिथिल हो गया तब भल्लाजी ने मौका देखकर मुझे 'धर्मवीर' के जरिये हिन्दी-भाषियों की सेवा करने के लिए आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया और मैंने भी सन् १९१७ के प्रारंभ में हिन्दीप्रचार के विचार से सम्पादन-भार अंगीकार कर लिया। सम्पादन-सूत्र ग्रहण करते ही मैंने पत्र की नीति रीति में आमूल परिवर्तन कर डाला। बाह्य रूप तो वही रहा, पर अन्तरात्मा बदल गई। उस पर जमाने का रंग चढ़ गया, नवीनता की छाप लग गई। जो निरा धर्मोपदेशक बना हुआ था, वह प्रवासी भारतीयों के स्वत्वों का वकील बन गया। उसे विभिन्न विषयों की सरल एवं लोकप्रिय पाठ्य-सामग्रियों से मैंने ऐसा सजाया कि वह हिन्दीपाठकों के लिए मानसिक आहार बन गया। यदि कभी किसी कारण उसके निकलने में कुछ देर हो जाती तो पाठक अधीर हो उठते और दफ्तर में शिकायतों का ताँता बँध जाता। हास्यविनोद से ओतप्रोत एक लेखमाला मैंने शुरू की—'त्रिलोकी का पोथा'। इसकी बदौलत पत्र का काफी प्रचार हुआ। अग्रलेख से लेकर फुटकर समाचार तक मुझे स्वयं ही लिखना पड़ता था। इधर-उधर से जबानों की जो रिपोर्टें आतीं उनकी हिन्दी ऐसी होती कि मुझे फिर नये सिरे

से उन्हें लिखना पड़ता था। रोज बहुत सवेरे तीन मील पैदल चलकर मैं प्रेस पहुँचता। वहाँ सारा दिन काम कर शाम को घर लौटता। इस प्रकार रोजाना छः मील चलने की कसरत हो जाती। प्रेस के साथ ही भल्लाजी की एक छोटी-सी दूकान थी, जिसके एक कोने में मेरा भी दफ्तर था। जब वह कार्यवश शहर चले जाते, मैं उनकी दूकान की भी देखरेख करता और ग्राहकों को सौदा भी बेच दिया करता। मैं इतनी मेहनत करता था केवल प्रवासी भाइयों की सेवा और हिन्दी-प्रचार की भावना से प्रेरित होकर, और इसके बदले में जेबखर्च के लिए मासिक दो पाउण्ड के सिवा और कुछ नहीं लेता था। अगर इसका नाम वेतन हो तो इस वेतन पर नेटाल में एक मामूली मजदूर भी नहीं मिल सकता है। किन्तु भल्लाजी को तो पत्र से आर्थिक लाभ था नहीं, हानि अवश्य थी। विज्ञापनों की भी बहुत कमी थी। केवल ग्राहकों का भरोसा था। पर बहुत-से ऐसे ग्राहक भी थे जो बरसों से अखबार हजम करके भी दाम देने का नाम न लेते थे! तब भला बेचारे भल्लाजी मुझे क्या देते? मेरे हक में सबसे अच्छी बात यह थी कि वह मेरी आजादी में कभी दस्तन्दाजी नहीं करते थे। एक बार वह मानहानि के मामले में फँसकर माफी माँग चुके थे, इसलिए मेरे लेखों पर उनकी निगाह बनी रहती थी और लेख छापने से पहले एक बार मेहरचन्दजी से पढ़वाकर अवश्य सुन लिया करते थे। पर मेरे लेखों में कभी कोई हेरफेर करने की उन्होंने हिम्मत नहीं की, इसलिए मतभेद का मौका ही नहीं आया। लगभग दो साल मैंने सम्पादन में बिताये। इस बीच पत्र की कल्पनातीत उन्नति हुई। मेरे सम्पादन-काल में जो दूसरा 'ऋषि-अंक' निकला उससे पत्र की और भी धाक जम गई। पत्र के द्वारा दलित और पीड़ित प्रवासी भारतीयों को मानवीय अधिकारों के प्रति जागरूक करना, वैदिक धर्म और आर्यसंस्कृति का संदेश सुनाना, समाज में प्रचलित सड़ी-गली रूढ़ियों के विरुद्ध बगावत फैलाना, जात-पाँत और ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाना, स्त्रियों को समाज में समानाधिकार दिलाना और मातृभाषा हिन्दी की पताका उड़ाना मैंने अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया था। मेरी इस नीति का परिणाम यह हुआ कि जहाँ मेरे मित्रों एवं प्रेमियों की संख्या बढ़ गई, वहाँ मेरे विचारों के विरोधियों की भी कमी न रही। एक ओर सुधारक मेरे मत का समर्थन करते, दूसरी ओर पुरातनपंथी मेरे विचारों का विकट विरोध। इधर मेरे लेखों से जोश फैलता, उधर प्रचण्ड रोष। यहाँ फूलों के हार से सत्कार होता, वहाँ निन्दा की बौछार होती। सार्वजनिक जीवन में सर्वप्रिय बना रहना किसी बिरले ही महापुरुष के लिए सम्भव हो सकता है, मुझ जैसे साधारण व्यक्ति के लिए कदापि नहीं। [शेषांश आगामी बार]

डॉक्टर देवराज

नारी

नारी, ओ नारी !
सहसरश्मि के रश्मिशरों से खरतर
भ्रू-कुञ्चन, दृक्पात ;
तड़िल्लता से नहीं कम्पदायक कम ;
मधुमय स्पर्शाघात ;
जग की सब हालाओं से मादकतर
सरस उष्ण चुम्बन
श्लथ अफीम के फूलों की माला-सा
तेरा भुज-बन्धन !
संसृति में तेरे शिशु-सा न कहीं है
पुष्प नयन-रञ्जन
तेरी करुणा-ममता से लावित है
वसुधा का कण-कण ।
भोगमयी ओ त्यागमयी
अनुरागमयी नारी !
किन फूलों के मृदुल दलों से निर्मित
तेरा वपु कोमल ?
किन किरणों के कनक-कणों से भूषित
तेरी स्मित उज्ज्वल ?
भरी हुई आँखों में किन मेघों की
तरल स्निग्ध छाया ?
किन तन्द्रिल सुकुमार स्नेह-तारों पर
झूल रही काया ?
गहन गूढ़ नारी !

●

हमारा पुस्तकालय

'काव्यालोक'*

संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र उसके अन्यान्य अङ्गों की ही भाँति विशेष सम्पन्न है। पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति से पृथक् उसकी एक अपनी विशेषता है, अपनी महिमा है। काव्य-साहित्य के संश्लिष्ट अध्ययन में वह अधिक सहायता नहीं भी पहुँचा सकता ; किन्तु उसके अणु-परमाणुओं की गहरी छान-बीन करने में वह अपना सानी नहीं रखता। प्राचीन साहित्य के प्राञ्जल अध्ययन में उसका साहाय्य अपरिहार्य है। आज हिन्दी के पक्ष में सपक्ष कल्पनाओंवाले बड़े-बड़े विद्वान हैं, पर उनमें असन्दिग्ध रूप से आनन्दवर्द्धन, मम्मट, कुन्तक, राजशेखर की-सी योग्यता नहीं है। इसलिए हिन्दी के रीति-

* लेखक—पण्डित रामदहिन मिश्र ; प्रकाशक—ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना ; पृष्ठसंख्या ३६२, मूल्य ५), छपाई-सफाई अच्छी।

ग्रन्थों को संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र समझना अल्पज्ञता का ही सूचक होगा। जहाँ हिन्दी के सूर-तुलसी संस्कृत के उच्चतम कवियों के समकक्ष हैं, वहाँ केशव, देव, दास-जैसे आचार्य्य पूर्वोक्त आलङ्कारिकों के व्यंग्य चित्र ही हैं। नायिका-भेद और अलङ्कारों के लक्ष्य-लक्षण-सन्दर्भ का नाम हिन्दी का रीति-ग्रन्थ हो सकता है; किन्तु संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र कदापि नहीं। सच तो यह कि हिन्दी में इस विषय के कोई मौलिक उद्भावक हुए ही नहीं। वैसे पुण्ड, करनेस, गोप, केशव, चिन्तामणि या भगवान दीन, हरिऔध, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाब राय आदि इस विषय के विद्वानों ने अनेक-विध रीति-ग्रन्थों का निर्माण कर इस पथ को पर्याप्त परिष्कृत किया है; किन्तु संस्कृत के महान आचार्य्यों की गुरु गम्भीर मौलिक रचनाएँ पढ़े बिना शास्त्रीय मर्म तक पहुँचना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करती है। प्रथम उद्योत में काव्य के लक्षण एवं उसके करण-कारण पर किये जानेवाले विवेचनों का विश्वास दिलाकर लेखक ने द्वितीय उद्योत को ही पहले प्रकाशित किया है। इसमें शब्द की तीन सुप्रसिद्ध शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—का ऊहापोह-पूर्वक विशकलन किया गया है। लेखक संस्कृत-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं, इसलिए उनकी लेखनी स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ का कौशल भी दिखलाती गई है। प्रारम्भ में, पन्त जी के 'पल्लव' की भाँति, लेखक ने दो भूमिकाएँ दी हैं जिनके अध्ययन से उनके उद्देश्य-विधेय का ही पता नहीं लगता, अपितु पुस्तक का संक्षिप्त स्वाध्याय भी हो जाता है। मेरे विचार से, पुस्तक से कम महत्वपूर्ण ये भूमिकाएँ नहीं हैं। प्रसङ्गवश पहली भूमिका में पन्त जी की अच्छी खबर भी ली गई है—यद्यपि पन्त जी का आशय लेखक के उद्बुद्ध पूर्वपक्ष से एक बार ही विभिन्न है।

वस्तुतः अलङ्कारशास्त्र समालोचन-शास्त्र नहीं, वह उसका प्रेरक या पूरक भर है। आचार्य्य द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास तथा पण्डित रामचन्द्रशुक्ल-जैसे आलोचन-कलाविदों ने हिन्दी में समालोचन-शास्त्र का ऐसी गहरी भूमि में शिलान्यास किया है कि अब उस पर अच्छी से अच्छी इमारत खड़ी की जा सकती है। अकेले शुक्ल जी तो किसी भी समृद्ध भाषा के तत्त्वदर्शी समालोचकों के समकक्ष सिद्ध होंगे। यह इसलिए कहा जा रहा है कि 'काव्यालोक' को समालोचनात्मक ग्रन्थों की परम्परा में रखना महान भ्रम होगा; यह तो सभी उपकरणों के साथ अलङ्कार-शास्त्र की ही एक कड़ी है। इसमें भी जो जहाँ-तहाँ समालोचनात्मक सरणि-सी प्रतीत होती है उसे शास्त्रार्थ या शङ्का-समाधान के अन्तर्गत समझना चाहिए, समालोचना के अन्तर्गत नहीं। इसमें 'साहित्यालोचन' की भाँति पाश्चात्य पद्धति से पौरस्त्य विषयों पर विचार-विमर्श नहीं किया गया और न शुक्लजी की समीक्षाओं के समान पूर्वी-पश्चिमी शैलियों के समीकरण का ही प्रयत्न है। यह तो विशुद्ध भारतीय रीतिशास्त्र है जिसमें विदेशी सिद्धान्तों की गन्ध तक नहीं, यद्यपि

लेखक ने अपनी भूमिका में उस सौरभ की ओर भी सङ्केत किया है। लेखक के ही शब्दों में "आजकल संस्कृत के ज्ञान-लव से दुर्विदग्ध, पुराने हिन्दीकाव्य-शास्त्र के निन्दक, अँगरेजी के प्रभाव से प्रभावित और नये समालोचना-संसार में विचरने वाले 'विचित्र जीव' (!) अपनी अहम्मन्यता से साहित्य में स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने को इच्छुक होते दिखाई पड़ते हैं" लेखक इस पुस्तक में उन्हीं की आशाओं पर पानी फेरने के फेर में पड़ गये हैं, इसलिए यह कहना अनावश्यक ही है कि उन्होंने पूर्वी-पश्चिमी प्रणालियों का समन्वयात्मक अध्ययन-मनन नहीं किया है। इतना ही नहीं, रोमैंटिक कवियों ने जिन भारी-भरकम शृङ्खलाओं की कड़ियाँ टूक-टूक कर इतनी ऊँची स्वच्छन्द रचनाओं से नई हिन्दी को सजाया-सँवारा है, लेखक ने उनके पाँवों में भी फिर से वही पुरानी बेड़ियाँ पहनाने का अभिनव प्रयास किया है। मैं इस प्रयास को व्यर्थ तो नहीं कह सकता, असामयिक कहने की धृष्टता अवश्य कर रहा हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि नई शैली के कवियों के साथ सैद्धान्तिक समझौता कर लेने पर इस विशाल काव्यग्रन्थ का निर्माण इस प्रकार नहीं हो पाता।

नाट्यशास्त्र, दशरूपक और साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद के अनुसार शेक्सपियर के विश्वविख्यात हैमलेट, मैकवेथ, आथेलो आदि दुःखान्त नाटकों का अध्ययन दुःखान्त ही होगा। रवीन्द्रनाथ की किसी भी रुचिर रचना में से काव्य-सम्बन्धी (पद से रस-पर्य्यन्त) कितने ही दोष ढूँढ़ लिये जा सकते हैं; किन्तु ऐसा करने पर आलोचक को 'दोषज्ञ' से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। क्या शेक्सपियर, रवीन्द्रनाथ या पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी की मान्यताओं के अनुसार मन्तव्य प्रकाशित करने पर भी वैसे भ्रम की सम्भावना हो सकती है? ये कवि जिन रूढ़ि-रीतियों को नमस्कार कर ऐसी चमत्कारकारिणी रचनाएँ प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं, उनमें केवल अज्ञान ही अज्ञान देखना क्या किसी तटस्थ 'द्रष्टा' का कार्य्य हो सकता है? रीति-शास्त्र यद्यपि कवियों की अनुवर्तिता ही करता आया है; किन्तु विवेचक के स्वतंत्र मत-प्रकाश के लिए अवकाश की कमी नहीं रह सकती। तदनुसार लेखक ने जिस दृष्टिकोण से विवेचन किया है वह एकाङ्गी कहा जा सकता है, किन्तु अशास्त्रीय या अशुद्ध नहीं। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य तो है नहीं कि अपनी स्थापनाओं के अनुसार लेखक ने नये कवियों की खूबियों को स्वीकार ही नहीं किया, अथवा पूरी सहानुभूति के साथ प्रश्रय ही नहीं दिया, प्रत्युत लक्षणा-व्यञ्जना के विवेचन-प्रसङ्ग में तो लेखक ने उन्हें खूब डूबकर देखा है। मैं तो केवल यह निवेदन कर रहा हूँ कि पश्चिमी काव्य-सौन्दर्य्यबोध से विशेषतया प्रभावित इन कवियों की कृतियाँ केवल इसी दृष्टिकोण से सही-सही नहीं परखी जा सकतीं। वर्तमान समय के सर्वश्रेष्ठ शब्दशिल्पी पन्त जी की जिन पंक्तियों में अभिधेय अर्थ का व्याघात दिखलाया गया है, वहाँ लाक्षणिक चमत्कार ही दर्शनीय है। कहना न

होगा, मुख्य अर्थ का व्याघात लक्षणा की पहली शर्त है। इसी प्रकार निराला जी के 'तुलसीदास' वाले उद्धरण में 'उन्हीं के किये हुए अर्थों' पर जो टिप्पणी दी गई है, उसपर यही कहना है कि वे अर्थ डाक्टर रामविलास शर्मा के लिखे हुए हैं, निराला जी के लिखे हुए निश्चय रूप से नहीं।

एक चमत्कार और है। शब्द और अर्थ की महिमा पर दो अन्य विद्वानों के लेख भी पुस्तक में जुड़े हुए हैं। अपने-अपने ढंग से दोनों ने 'इन्द्र जिमि जम्भ पर' का रूपक खूब निभाया है। ऐसी-ऐसी छोटी-मोटी बातों पर साधारणतया ध्यान न देने से पुस्तक अत्यन्त उपादेय प्रतीत होगी। कम से कम उनके लिए तो यह ब्रह्मास्त्र का काम करेगी जो संस्कृत से अपरिचित रहकर भी उसके विश्वविश्रुत अलङ्कारशास्त्र की गहराई तक उतरने का हौसला रखते हैं। वक्ता या लेखक जिस भाषा के सहारे संसार के मन-प्राणों को छूने का प्रयत्न करता है, उसकी शक्तियों से सम्यक् परिचय प्राप्त कर लेना प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का सांस्कृतिक कर्त्तव्य है। पण्डित जी ने सहृदय जिज्ञासुओं के लिए वैसा ही स्वर्णसुयोग उपस्थित कर दिया है। शब्द के माहात्म्य एवं दोषों को सुयोग्य शिक्षक की भाँति बड़ी ही साफ-सुथरी भाषा में उदाहरणों-प्रत्युदाहरणों से सजा-सजाकर समझाया है जिससे यह पुस्तक सुकुमार-मति एवं प्रौढ़ पाठकों के लिए समान रूप से मननीय हो गई है। पण्डित जी ने इसे उपयोगी तथा उपादेय बनाने के लिए कितना परिश्रम किया है, यह उनके विभिन्न भाषाओं के बहुसंख्यक ग्रन्थों के आलोड़न-विलोड़न एवं शत-शत प्राचीन-नवीन पद्यों के उद्धरणों से अनुमित होता है। सच तो यह कि अनन्त प्रतीक्षा के पश्चात् हिन्दी में अलङ्कारशास्त्र की इतनी वैज्ञानिक, प्रामाणिक तथा मौलिक रचना देखने में आई है। मतभेद की बात न्यारी है; किन्तु मेरे विचार से 'काव्य-कल्पद्रुम' अथवा 'नव-रस' आदि ग्रन्थों के साथ इसकी तुलना न की जानी चाहिए; क्योंकि वे शास्त्रीय विषयों का ऐतिहासिक किंवा लक्ष्य-लक्षणात्मक परिचय मात्र प्रदान करते हैं; किन्तु यह तो उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म समीक्षा-परीक्षा भी करता है। सुस्पष्ट शब्दों में यह इस विषय के अबतक प्रकाशित ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पण्डित जी अतिशीघ्र इसके शेष चारों उद्योतों को भी प्रकाश में लाकर पीछे छूटे जाते हुए इस शास्त्र को आगे बढ़ाने का सुयश अवश्य-अवश्य प्राप्त करेंगे।

—*जानकीवल्लभ शास्त्री*

●

हमारी साहित्यिक प्रगति

भाषा-संस्कार

'भाषा-संस्कार'-सम्बन्धी एक विचारपूर्ण लेख इसी पुस्तक में प्रकाशित है। उसके विद्वान् लेखक सुप्रसिद्ध कोषकार हैं। उनके अनुभव निरन्तर मनन और अन्वेषण के

परिणाम हैं। हिन्दी-संसार में ऐसे और भी विद्वान होंगे जिन्हें भाषा-संस्कार पर विचार करते रहने का अभ्यास और अनुराग होगा। उनसे भी हमारा नम्र निवेदन है कि वे हमें नेक सलाह दें और सुगम मार्ग सुझावें। 'हिमालय' के प्रकाशन का श्रीगणेश करते समय हमने भाषा-संस्कार की चर्चा बराबर जारी रखने का निश्चय किया था। हम स्वयं तो भाषा के पंडित या मर्मज्ञ नहीं हैं, पर इस बात के अभिलाषी अवश्य हैं कि हमारी भाषा का रूप शुद्ध और सुन्दर हो। अपनी अल्पज्ञता के आतंक से सदा त्रस्त रहते हुए भी हम 'हिमालय' की भाषा को यथामति-यथाशक्ति शुद्ध-सुन्दर बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। अपने सहयोगियों का सादर स्वागत करते समय उनसे भी प्रार्थना करते रहते हैं कि भाषा की शुद्धता और सुन्दरता पर वे भी सदैव ध्यान रखने की कृपा करें। हम अपनी प्यारी भाषा को अनावश्यक नियमों के बन्धन से जकड़कर जटिल बनाना नहीं चाहते। उसकी स्वाभाविक गति में बाधा देना हमारा अभीष्ट नहीं। भाषा-संस्कार का आन्दोलन उसके विकास में बाधक नहीं, बल्कि साधक होकर ही सफल हो सकता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता हममें नहीं है। हम तो भाषातत्त्वज्ञों और भाषाहितैषियों का केवल ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। कभी-कभी किसी पत्र-पत्रिका में इस विषय की चर्चा कर देने से ही काम न बनेगा। नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहने की आवश्यकता है। अखिल-भारतीय हिन्दीसाहित्यसम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्योग और सहयोग से ही इस आन्दोलन का संगठन और संचालन सफलतापूर्वक हो सकता है। इन सर्वमान्य संस्थाओं का संरक्षण और समर्थन प्राप्त होने पर इसे संघशक्ति का बल मिलेगा। अखिलभारतीय हिन्दीपत्रकारसम्मेलन यदि तत्पर हो जाय तो यह और भी व्यापक बन सकता है। हिन्दीपत्रकारों का सहयोग सबसे अधिक प्रभावशाली और सिद्धिदायक होगा। यदि पत्र-पत्रिकाओं के विज्ञ पाठक भी इसमें दिलचस्पी दिखावें तो आशातीत लाभ की सम्भावना है। समालोचकों का तो यह कर्त्तव्य ही है। वे ही भाषा की फुलवाड़ी के चतुर माली और रखवार हैं। अगर वे कड़ी निगाह रखें तो भाषा का बहुत उपकार हो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आजकल कहानियों और कविताओं की भरमार हर जगह है। इनके लेखकों की संख्या बहुत बढ़ गई है—बढ़ रही है। यह हर्ष और सन्तोष का विषय तो है; किन्तु इन लेखकों में ऐसे बहुत कम हैं जो भाषा की सफाई और सुघराई पर ध्यान रखते हों। अधिकांश तो गुरु बनकर ही क्षेत्र में आते हैं, शिष्यत्व को अपमानजनक समझते हैं। यह स्वावलम्बन का भाव प्रशंसनीय भले ही हो, स्वाध्याय का अभाव प्रशंसनीय नहीं हो सकता। हिन्दी में आदर्श गद्यकार और आदर्श कवि पहले भी हुए हैं, आज भी हैं; पर भाषा सीखने की दृष्टि से उनकी रचनाओं का अध्ययन और मनन करना फालतू काम समझा जाता है।

पन्त, निराला और महादेवी के कल्पना-कानन में विहार करनेवाले बहुत होंगे, पर उनके सन्दर्भ-सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण इने-गिने ही करते हैं। एक होनहार गद्यकार महाशय तो आचार्य द्विवेदीजी को अब 'चौथाई शताब्दी पिछड़ा हुआ शैलीकार' कहते हैं! वह बेधड़क कह जाते हैं कि आज के लेखकों और कवियों को 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' से कुछ नहीं मिल सकता! जहाँ ऐसी मनोवृत्ति के श्रद्धालु (!) जीव हैं वहाँ भाषा में अराजकता कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे क्रान्तिकारी सज्जनों को भाषा-संस्कार की चर्चा में कोई रस नहीं मिल सकता। रस तो इसमें उन्हीं को मिलेगा जो अपनी भाषा की प्रकृति और संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहते हैं और जिनकी संख्या भी हिन्दी-जगत् में कुछ कम नहीं है।

—शिव

कविताओं और कहानियों की बाढ़

हिन्दीसाहित्यसरिता में कविताओं और कहानियों की बाढ़ देखकर जितनी प्रसन्नता होती है उतनी ही चिन्ता भी। प्रसन्नता इसलिए कि हमारी भाषा का काव्य-साहित्य और कथा-साहित्य दिन-दिन विस्तृत और सम्पन्न होता जा रहा है। चिन्ता इसलिए कि विस्तार तो बढ़ रहा है और भंडार भी भर रहा है, किन्तु वास्तविकता और गंभीरता घट रही है। हमारे चिन्तित होने से न तो साहित्य का कुछ बनता-बिगड़ता है और न यह प्रवाह ही रुक सकता है। हम प्रवाह का पथावरोध करना भी नहीं चाहते। हम तो अपने उगते हुए कलाकारों की संख्यावृद्धि से उत्साहित होनेवालों में हैं। हिन्दीमाता के मन्दिर में पुजारियों की भीड़ देखकर कौन हिन्दीभक्त आनन्दमग्न न होगा? किन्तु यह अनुभूत सत्य है कि भीड़ में सब-के-सब पुजारी ही नहीं होते। ग्रहण और शिवरात्रि की भीड़ में बहुत-से पूजार्थी भगवान् कपाली के कपाल पर ही मिट्टी की गंगाजली फोड़ते हैं। ऐसे उतावले पूजार्थी से किसी भक्त की सहानुभूति नहीं हो सकती। हिन्दी के बहुत-से पुजारियों में ऐसा उतावलापन स्पष्ट देख पड़ता है। इसके कारण हिन्दी के सिर जो कुछ बीत रहा है वह खुली आँखों देख सकना असह्य-सा है। आज के सम्पादक और प्रकाशक अन्धाधुन्ध रचनाएँ और पुस्तकें प्रकाशित करते चले जाते हैं; पर उन्हें परिमार्जित और परिष्कृत रूप में प्रकाशित करने पर यथोचित ध्यान नहीं देते। सम्भव है, हमारी इस बात पर सहसा किसीको विश्वास न हो; पर यदि कोई भाषा-भाव की दृष्टि से पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को ध्यान से देखने का कष्ट स्वीकार करे, तो हमें विश्वास है कि यह बात बहुलांश में विश्वसनीय प्रतीत होगी। कहानियों की जो पत्रिकाएँ निकलती हैं और कुछ साप्ताहिक तथा दैनिकपत्रों में—कितने ही मासिकों में भी—जो कविताएँ छपती हैं, उनपर यदि ठीक-ठिकाने से विचार किया जाय तो अधिकतर ग्लानि और निराशा ही नसीब होगी। इसमें कहानी-लेखकों और कवियों का विशेष दोष नहीं है। वे अपनी साहित्यसेवा की उमंग न रोक सकें तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा

जा सकता। दोषी वास्तव में हम सम्पादक ही हैं जो अपने पत्रों या पत्रिकाओं के माध्यम द्वारा भाषा के पवित्र क्षेत्र में भ्रष्टता फैलाते हैं। हमारा काम होनहारों का केवल उत्साह बढ़ाना ही नहीं है, मार्गप्रदर्शन करना भी है। इस मार्गप्रदर्शन के लिए कठिन परिश्रम अपेक्षित है। और, अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का रंग-ढंग देखने से पता चलता है कि वे इससे वंचित हैं। तब तो मजबूत बाँध के बिना बाढ़ का नियंत्रण असंभव है!

—शिव

पत्र-सम्पादन और प्रूफ-संशोधन

मुद्रणकला और प्रूफ-संशोधन की कला में घना सम्बन्ध है। जहाँ मुद्रणकला अपना समस्त सौन्दर्य समेटे रानी बनी बैठी हो, वहाँ प्रूफ-शोधन-कला यदि प्रसाधिका या चामरवाहिनी के रूप में उपस्थित न हो, तो मुद्रणकला की सारी शान फिट पड़ जाती है। लेखक की विद्वत्ता और सम्पादक की पटुता तबतक कुछ भी रंग नहीं ला सकती जबतक वह प्रूफ-शोधक की गहरी दृष्टि से अनुरंजित न हो। प्रूफ-शोधन अत्यन्त कठिन कर्म है और कुछ लोगों की दृष्टि में जघन्य कर्म भी। किन्तु जिस प्रकार भगवान् राम की कीर्त्तिपताका के दण्ड-स्वरूप लक्ष्मण कहे गये हैं उसी प्रकार लेखक और सम्पादक के कीर्त्तिकेतु का दृढ़ दण्ड प्रूफशोधक कहा जा सकता है। खेद है कि हिन्दीसंसार में अच्छे प्रूफशोधक बहुत कम नजर आते हैं। उनकी कमी से आज विद्वान लेखकों के उत्तम लेख और सुयोग्य सम्पादकों के सुन्दर अग्रलेख भी फीके पड़ते दीखते हैं। कितनी ही पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ सुसज्जित और नेत्ररंजक रूप धारण कर सामने आती हैं, पर प्रूफशोधन-कला की कसौटी पर उनके रूप का रहस्य खुल जाता है। यदि हम कुछ प्रमुख पत्रों और प्रमुख लेखकों-प्रकाशकों की पुस्तकों को अलग कर दें, तो बाकी जो कुछ बचेगा सब प्रूफशोधन की दृष्टि से निरर्थक ही जँचेगा। कृपया इसे अतिशयोक्ति समझने से पहले कोई दैनिक या साप्ताहिक उठा लीजिए, चाहे कोई मासिक ही क्यों न हो, ध्यान से पढ़ जाइए, प्रूफ की बहुत-सी गलतियाँ अनायास मिल जायँगी। जान पड़ता है कि हिन्दीजगत् में किसी को इस बात का अनुभव ही नहीं होता कि अशुद्ध छपाई से राष्ट्रभाषा हिन्दी का गौरव कितना घट रहा है। अँगरेजी के पत्रों और ग्रन्थों को देखकर जब हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तब हिन्दी के अधिकांश पत्रों और पुस्तकों की शोचनीय दशा पर मन में जुगुप्सा उत्पन्न होती है—लज्जा आती है। कहनेवाले कहते हैं कि हिन्दी के नागराक्षर की तरह अँगरेजी के अक्षरों में छपाई का बखेड़ा या झंझट-झमेला नहीं है। किन्तु जिन पत्र-पत्रिकाओं में छपाई की सुविधा के लिए नागरी-लिपि का सुधार किया गया है उनको भी हम सर्वथा निर्दोष नहीं पाते। रोग की उपयुक्त चिकित्सा न करके रोगाक्रान्त अंग में ही काटछाँट करने लगना बुद्धिमानी नहीं है। सरल उपाय यह है कि प्रूफरीडरों को तैयार करने के

लिए विद्यालय और परीक्षा का प्रबन्ध किया जाय। पत्रकार-विद्यालय चाहे जब खुले, पहले प्रूफरीडिङ्ग की कला सिखाने के लिए मुख्य केन्द्रस्थानों में संगठित प्रयत्न होना चाहिए। नहीं तो लेखकों और सम्पादकों का सारा परिश्रम निष्प्रयोजन एवं निष्फल होता रहेगा। इससे हिन्दी की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी संकटापन्न होगी। —शिव

'हिन्दीसेवक-मण्डल'

काशीनागरीप्रचारिणी सभा के प्राण पूज्य पण्डित रामनारायण मिश्र जी ने एक 'हिन्दीसेवकमण्डल' नामक संस्था स्थापित करने की योजना हिन्दीजगत् के समक्ष उपस्थित की है। सभा ने यह योजना स्वीकृत कर ली है। इसकी रूपरेखा बतानेवाला एक पत्रक साहित्यसंसार में वितरित हो चुका है। उसमें लिखा है—"जिस प्रकार स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले और लाला लाजपत राय ने यथानुक्रम पूना और लाहौर में दो लोकसेवक-संस्थाएँ खोलकर राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करने के लिए देश के त्यागी नवयुवकों को आकृष्ट किया था उसी प्रकार एक हिन्दीसेवकमण्डल का संघटन सभा के अन्तर्गत होना आवश्यक है। इस मण्डल का एक कार्यालय काशी में और दूसरा हरद्वार में होगा। इसके सदस्यों का कर्त्तव्य होगा कि देश-विदेश में घूम-घूमकर साक्षरता का प्रचार करें, एकलिपिविस्तारपरिषद् को फिर से जीवित करें, प्राचीन हिन्दीपुस्तकों की खोज करें, साहित्यगोष्ठियों और कविसम्मेलनों का संघटन करें, विद्यालय और पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित करें, हिन्दी पर होनेवाले प्रहारों से उसके बचाव का क्रियात्मक उपाय करें और आवश्यकता पड़ने पर ऐसे प्रहारों के विरुद्ध खुला आन्दोलन करें एवं साहित्यसम्मेलन तथा अन्य हिन्दीहितैषी संस्थाओं के कार्यों को आगे बढ़ाएँ। उनमें आध्यात्मिक भाव हो। वे निस्वार्थ, उद्यमी और धैर्यवान् हों तथा केवल पुरस्कार लेकर कार्य सम्पन्न कर सकें और साम्प्रदायिकता से अपनेको दूर रख सकें। मंडल का कार्यारम्भ कम से कम दो सदस्यों से किया जा सकता है, जिनपर ५०००) वार्षिक खर्च होने का अनुमान है। पर्याप्त धन प्राप्त होने पर कार्यारम्भ कर दिया जायगा।" यही मण्डल की योजना का संक्षिप्त रूप है। हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था देखते हुए ऐसे मण्डल की स्थापना नितान्त आवश्यक जान पड़ती है। आज हिन्दी को ऐसे निस्स्वार्थ सेवकों की बहुत आवश्यकता है जो अपना सारा समय हिन्दीहितसाधन में ही लगा सकें—अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दीहितचिन्तन में ही लगा सकें। यद्यपि इस युग में 'निस्स्वार्थ' शब्द अत्यन्त भयंकर है, और 'सेवा' शब्द भी कुछ कम निष्ठुर नहीं, तथापि इसी युग में कुछ गिने-चुने निस्स्वार्थ सेवक अपने-अपने अभीष्ट क्षेत्रों में सच्ची लगन से काम कर ही रहे हैं। सुविस्तृत हिन्दीसंसार भी खाली नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में तो मातृभूमि की सेवा के लिए त्याग-तपस्या करनेवालों को पदाधिकार का पुरस्कार और जनता का स्वागत-

सत्कार प्राप्त होता रहता है ; किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में मातृभाषा के त्यागी सेवकों के लिए वैसे प्रलोभन या आकर्षण प्रायः नहीं हैं। इसलिए हिन्दीप्रेमियों के सामने यह अग्निपरीक्षा का प्रश्न है। फिर भी आशा है कि इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले कुछ लोग निकल ही आवेंगे। रह गई बात 'कार्यारम्भ के लिए पर्याप्त धन' की। हिन्दीप्रेमियों के पास धन की कमी नहीं है, हिन्दी के कल्याण के लिए थैली खोलने की प्रवृत्ति की कमी है, नहीं तो कोई एक ही धनी 'कार्यारम्भ के लिए पर्याप्त धन' दे सकता है और दूसरा धनी चाहे तो कार्यसंचालन के लिए भी। किन्तु ऐसा होना संभव नहीं ; क्योंकि सभा और साहित्यसम्मेलन की कई योजनाएँ और अपीलें पहले से ही धनिकों की बाट जोह रही हैं। इसलिए हिन्दीप्रेमी जनता ही बूँदबूँद से तालाब भर दे। —शिव

'साहित्यकार-संसद'

प्रयाग में 'साहित्यकार-संसद' नामक एक संस्था गत वर्ष स्थापित हुई थी। उसका उद्देश्य है साहित्यसेवियों के स्वत्वों और हितों का संरक्षण। उसके सभापति हैं श्री मैथिलीशरणजी गुप्त और मंत्री हैं श्रीमती महादेवी वर्मा। उसके द्वारा लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित होंगी और उन्हें लाभ का अधिक से अधिक हिस्सा दिया जायगा। सभापति ने अपनी हीरक-जयन्ती पर मिली थैली और मंत्री ने अपनी तीन पुस्तकें देकर उसके लिए एक निधि भी कायम कर दी है। कुछ प्रकाशकों से उसे निराला जी, पन्त जी, उग्र जी, नगेन्द्र जी आदि की पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार भी मिल गया है। उसकी ओर से लेखकों के लिए गंगा-तट पर एक स्वाध्याय-आश्रम भी बननेवाला है। निर्धन और विपद्ग्रस्त लेखकों की सहायता करने का प्रबंध भी उसके ध्यान में है। इस संस्था से साहित्यिकों के असहाय जीवन को बहुत सहारा मिलने की आशा है। लेखकों को इससे केवल आश्रय और अवलम्ब ही नहीं मिलेगा, शान्ति और सम्मान भी प्राप्त होगा। जिस दिन उन्हें जीवनयात्रा के लिए सन्तोषप्रद संबल, स्वाध्याय के लिए एकान्त रमणीय स्थान और साहित्यसृष्टि के लिए स्वतंत्र वातावरण मिलेगा उस दिन हमारे हिन्दीसाहित्य को भी बहुत-कुछ मिलेगा। इन साधनों के अभाव से अनेक लेखकों का विकास नहीं हो पाता। संसद के उद्योग से यदि ये साधन सुलभ हुए तो साहित्य की खूब श्रीवृद्धि होगी। सभापति और मंत्री के प्रभावशाली व्यक्तित्व से संसद को सब लेखकों का सहयोग प्राप्त होगा। इसलिए विश्वास है कि निकट भविष्य में ही संसद के शुभ प्रयत्नों से साहित्य लाभान्वित होने लगेगा। —शिव

'संयुक्त पत्रकार-लेखक-संघ'

प्रयाग में ही पत्रकारों और लेखकों का एक संयुक्त संघ है। उसके प्रधान हैं 'कर्मयोगी'-सम्पादक श्रीसहगलजी। उसकी कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया है जिसकी एक प्रति हमें भी प्राप्त हुई है। वह इस प्रकार है— 'पूँजीपति लोग

अपनी अपार सम्पत्ति के बल से देश के प्रायः सभी समाचारपत्रों के मालिक बन गये हैं और उसके फलस्वरूप पत्रकारों और लेखकों का जीवन संकट में पड़ता जा रहा है। यदि उन्होंने अपना तगड़ा संगठन कायम न किया तो अबतक के पत्रकारों के उच्चादर्श ध्वस्त हो जायँगे और हमारे पत्रकार पूँजीपतियों के हाथ में खिलौने बन जायँगे जिससे लोकमत पर भी कुठाराघात होने की संभावना है। अतएव यह संघ समस्त श्रमजीवी पत्रकारों और लेखकों को सावधान करता है कि वे इस खतरे को समझें और अपना ऐसा जबरदस्त संघ स्थापित करें कि वह उनकी स्वतंत्रता, मर्यादा, आर्थिक स्थिति आदि की रक्षा कर सके और जरूरत पड़ने पर पूँजीपति स्वामियों के साथ पत्रकार संघर्ष के लिए भी तैयार रहें।" प्रस्ताव तो बहुत बढ़िया है—देखने में सुन्दर, पढ़ने में मधुर, सुनने में सुहावना! पर क्या यह कार्यान्वित भी हो सकेगा? पत्रकार और लेखक क्या सचमुच संगठित होना चाहते हैं? हम निराशावादी नहीं हैं; पर अनेक बार पत्रकारों और लेखकों के संगठन तथा संघ की चर्चा कानों से सुनकर भी आँखों से कुछ देख नहीं सके हैं, इसलिए सहसा विश्वास जमना मुश्किल है। पत्रकारों और लेखकों से प्रेरणा एवं प्रोत्साहन पाकर दूसरे लोग भले ही संगठित हो जायँ; पर स्वयं पत्रकार और लेखक शीघ्र अपना संगठन न कर सकेंगे। बीस बरसों से इनके संगठन का शोर सुनते आ रहे हैं! अगर दर-असल इनमें संघशक्ति आ जाय, तो कौन ऐसा है जो इनके आगे न झुकेगा? हम प्रस्ताव की ओजस्विता की प्रशंसा करते हैं और उसे कार्यान्वित करनेवालों की तेजस्विता की प्रतीक्षा। —शिव

हिन्दी-विश्वविद्यालय

हिन्दीप्रेमी जानते हैं, विक्रम-संवत् २००० में बड़े समारोह से विक्रम-द्विसहस्राब्दी-महोत्सव उज्जैन में मनाया गया था। श्रीमन्त ग्वालियर-नरेश की छत्रच्छाया में उत्सव तो सफल हुआ ही, हिन्दीविश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय भी हुआ। किन्तु घोषणा हुए दो वर्ष हो गये, आजतक ग्वालियर-राज्य ने हिन्दीविश्वविद्यालय की योजना को कार्यरूप में परिणत न किया। ग्वालियर का हिन्दी-साप्ताहिक 'जीवन' प्रजापक्ष का एक सुन्दर पत्र है। उसके सुयोग्य सम्पादक कविवर 'मिलिन्द' जी अपने अग्रलेख में लिखते हैं—"विक्रम-द्विसहस्राब्दी-उत्सव की योजना में, हमारी राय में, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश हिन्दी-भाषा के माध्यम द्वारा विविध ज्ञान, विज्ञान और व्यवसाय-कला की उच्च शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालय की स्थापना ही था। संवत् २००० में होनेवाला वह आयोजन संवत् २००२ की समाप्ति तक भी कोई रूपरेखा ग्रहण नहीं कर पाया है और सन्देह होने लगा है कि शायद विक्रमोत्सव की सारी योजना के साथ-साथ हिन्दी-विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रश्न भी हवा में उड़ गया है। इस सम्बन्ध में ग्वालियर-सरकार की ओर से तो केवल एक लाख रुपया ही दिया

गया था और सवा दो लाख रुपया जनता की ओर से चन्दे के रूप में दिया गया था। यह सवा तीन लाख की निधि एक सार्वजनिक निधि थी जिसका सरकार केवल ट्रस्टी ही थी। चन्दा लेते समय इस निधि के विनियोग के जो मार्ग जनता को बताये गये थे उनमें हिन्दीविश्वविद्यालय की स्थापना प्रमुख थी। ग्वालियर-गवर्नमेण्ट का कर्त्तव्य था कि अपनी घोषणा के अनुसार विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए और भी धन देती और जनता से लेती तथा पर्याप्त धन एकत्र करके उसे विश्वविद्यालय की स्थापना में ही लगाती। ऐसा न करके गवर्नमेण्ट ने जनता के विश्वास के साथ न्याय नहीं किया है...।" इस सम्पादकीय मन्तव्य के प्रकाशित होने के बाद त्यागमूर्त्ति श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन, गत मार्च के अन्त में, ग्वालियर गये थे। उन्होंने भी अपने सार्वजनिक भाषण में कहा था—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है। मैं यह कहूँगा कि ग्वालियर ने हिन्दी के लिए बहुत कुछ किया है। अदालती भाषा हिन्दी की। ग्वालियरनरेश ने हिन्दीविश्वविद्यालय की बात चलाई थी, किन्तु अब वह चर्चा धीमी पड़ गई है। कार्य सोते-सोते नहीं होता। वे युवक हैं, उत्साही हैं, उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। वे हिन्दीभाषा के माध्यम द्वारा हर प्रकार का उच्च ज्ञान देनेवाले इस प्रकार के विश्वविद्यालय का निर्माण कर पथप्रदर्शक का काम करें। आशा ही नहीं, किन्तु पूरा विश्वास है कि ग्वालियर-नरेश इस ओर उचित ध्यान देंगे और जो शुभ संकल्प प्रारम्भ में किया गया था उसे शीघ्र पूरा करने का उपक्रम करेंगे। हिन्दी आज के बहुत-से प्रश्नों को हल कर सकती है और करती आई है।" श्रद्धेय टण्डनजी के ये शब्द ग्वालियरनरेश के कानों तक अवश्य पहुँचे होंगे। और, कार्यारम्भ के निमित्त सवा तीन लाख रुपये की पूँजी भी है ही। फिर विलम्ब का कोई कारण नहीं देख पड़ता। राज्य की प्रजा को अपनी सरकार से अनुरोध करते रहना चाहिए; क्योंकि हिन्दीविश्वविद्यालय की स्थापना का सर्वप्रथम श्रेय प्राप्त कर ग्वालियर गौरवान्वित हो उठेगा। राज्य का मुखपत्र 'जयाजीप्रताप' हिन्दी का बहुत सुन्दर साप्ताहिक है। उसको भी राज्य के उच्चाधिकारियों का ध्यान इधर आकृष्ट करना चाहिए। हम तो समझते हैं कि उज्जैन के ज्योतिषाचार्य पंडित सूर्यनारायणजी व्यास का ध्यान इधर अवश्य होगा; क्योंकि वही विक्रमोत्सव के संयोजक और इस योजना के उत्प्रेरक थे और वह चाहें तो राज्य को कलंक से बचा सकते हैं। —शिव

हमारे प्रान्तीय साहित्यसम्मेलन

पंजाब, युक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश और बिहार में प्रान्तीय हिन्दीसाहित्यसम्मेलन हैं। पंजाब और बिहार के सम्मेलन अपेक्षाकृत सजीव और कर्मशील जान पड़ते हैं। पंजाब के सम्मेलन का सोलहवाँ अधिवेशन गत वर्ष दिसम्बर में हुआ था—रावलपिण्डी में। अमृतधारा के आविष्कर्त्ता पंडित ठाकुरदत्त शर्मा ने सभापति-पद से भाषण करते समय

वैदिक मङ्गलाचरण में यजुर्वेद के एक मंत्र का भावार्थ बतलाया था—"वाणी, सभ्यता और देश की रक्षा करना सच्चा यज्ञ है। यही यज्ञ सुख, आनन्द, विभूति और ऐश्वर्य का देनेवाला है।" इस सम्मेलन का प्रधान कार्यालय लाहौर में है। त्यागमूर्त्ति गोस्वामी गणेशदत्तजी के प्रयत्न से इसमें नवजीवन का, संचार हो गया है। इसके प्रधान मंत्री प्रोफेसर वसिष्ठ शर्मा एम०ए० बड़े कर्मठ पुरुष हैं। उन्होंने श्री भीमसेन विद्यालङ्कार-लिखित एक पुस्तिका प्रकाशित की है—'पंजाब में हिन्दीभाषा की स्थिति'—जिसके प्रकाशन का सारा व्यय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री उदयशंकरजी भट्ट ने दिया है। यह सम्मेलन सचमुच एक सजग संस्था है। बिहार के सम्मेलन के उन्नीसवें अधिवेशन का हाल हम पहले सुना चुके हैं। पटना में इस सम्मेलन का एक अपना विशाल भवन है जिसे सुसज्जित एवं साधनसम्पन्न बनाने के लिए पूज्य राजेन्द्र बाबू ने जनता से एक लाख रुपये की अपील की है। इस सम्मेलन की रजत-जयन्ती भी मनाई जानेवाली है। इसके अस्तङ्गत मुखपत्र 'साहित्य' को भी पुनरुज्जीवित करना है। प्रान्तीय सम्मेलनों में यही सबसे पुराना है। इस वर्ष के आरम्भ में मध्यप्रान्त और विदर्भ का ग्यारहवाँ सम्मेलन, डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में, नागपुर में हुआ था। उसमें विद्वद्वर सभापति के अतिरिक्त पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी और श्री कौसल्यायन जी के भाषण बड़े महत्त्व के हुए थे। युक्तप्रान्तीय सम्मेलन तो मृगेन्द्र-गति से चलता है। गत अप्रैल में उसका छठा अधिवेशन शिकोहाबाद में हुआ। डाक्टर अमरनाथ झा ने सभापतिमंच से भाषण करते हुए राष्ट्रभाषा के रूप की विशुद्धता पर काफी जोर दिया और कृत्रिम भाषा के निर्माण की खूब भर्त्सना भी की। प्रान्त के शिक्षामंत्री श्री सम्पूर्णानन्दजी ने सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए हमारे लिए गर्व की बात कह डाली—"संस्कृत को छोड़कर, आज भी, किसी भी भारतीय भाषा का वाङ्मय, विस्तार या मौलिकता में, हिन्दी के आगे नहीं जाता।" इस सम्मेलन के साथ ही व्रजसाहित्यमंडल का भी तीसरा अधिवेशन प्रयाग-विश्वविद्यालय के इतिहासाध्यापक डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी के सभापतित्व में हुआ। त्रिपाठीजी व्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ हैं और घनानन्द-रसखान-साहित्य के विशेषज्ञ भी। उनके गवेषणात्मक भाषण में पाण्डित्य और लालित्य का मधुर मिश्रण दर्शनीय ही है। व्रजसाहित्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन में उन्होंने खूब आनन्दवर्षण किया है। व्रजप्रान्त का यह मण्डल भी एक क्रियाशील संस्था है। इसका गढ़ मथुरा है। इसकी मुखपत्रिका 'व्रजभारती' दो साल बड़ी सुन्दरता से निकली थी। पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी, पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी, पंडित हरिशङ्कर शर्मा आदि इस मंडल के सहृदय सहायक हैं। इसके एक साल बाद का दिल्ली-प्रान्तीय सम्मेलन है, जिसका दूसरा अधिवेशन पंडित [illegible] शर्मा [illegible] के सभापतित्व में गत मार्च में दिल्ली में ही हुआ था।

उनका भाषण काफी ओजस्वी रहा ; राष्ट्रभाषा की पुष्टि में उसमें दो-टूक बातें कही गईं—डंके की चोट घोषणाएँ की गईं—रेडियो के रहस्यमय षड्यंत्र की तो खाल ही उधेड़ दी गई। जहाँ तक स्मरण है, मध्यभारत में भी सम्मेलन है। शायद उसका दूसरा अधिवेशन पिछले किसी साल पंडित सूर्यनारायण व्यास के सभापतित्व में कहीं मालवा में हुआ था। एक बार राजस्थान के सम्मेलन की भनक भी कानों में पड़ी थी। कलकत्ता में कोई राजस्थानी-साहित्य-मण्डल है जो शोधसम्बन्धी अच्छा काम करता है; पर वह राजस्थान-प्रान्तीय सम्मेलन नहीं है। ऐसे तो बंगाल, असाम, बर्मा और उड़ीसा में भी राष्ट्रभाषाप्रचार-सभाएँ कभी कायम हुई थीं जिनकी वर्तमान प्रगति का हमें ठीक पता नहीं, पर उन्हें भी हम प्रान्तीय सम्मेलन नहीं मान सकते। कलकत्ता में कोई बंगाल-हिन्दीप्रचारसंडल आज भी है और उड़ीसा की राष्ट्रभाषाप्रचार-सभा का तेरहवाँ अधिवेशन अभी हाल ही में श्रीब्रजमोहन बिड़ला के सभापतित्व में कटक में हुआ था। किन्तु यह तो दक्षिणभारत की हिन्दीप्रचारसभा (मद्रास) के ढंग की संस्था है, प्रान्तीय सम्मेलन नहीं। बम्बई में भी हिन्दीविद्यापीठ है, सम्मेलन की हमें खबर नहीं। सिन्धप्रान्तीय सम्मेलन ने तो इस बार कराची में अखिलभारतीय सम्मेलन को निमंत्रित करके अपनी प्रगति बतला ही दी है। दक्षिण-हैदराबाद में तो निजाम सरकार की भलमनसी से हिन्दी पनपने ही नहीं पाती। मैसूर, ट्रावंकोर, कश्मीर आदि हिन्दूराज्य भी उदासीन ही दीख पड़ते हैं, नहीं तो वहाँ के हिन्दीप्रेमियों का साहित्यानुराग अबतक सम्मेलन के रूप में परिणत हो गया होता। हिन्दी की अनुदिन उन्नति देखते हुए यह आशा करना असंगत नहीं है कि अनतिदूर भविष्य में भारत का कोई खण्ड प्रान्तीय सम्मेलन से वंचित न रह सकेगा।

—शिव

हमारे दैनिक और साप्ताहिक पत्र

जैसा हम लिख चुके हैं, हिन्दी के अधिकांश दैनिकों और साप्ताहिकों के सम्पादन तथा मुद्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। हम राष्ट्रभाषा के गौरव का ध्यान छोड़कर आर्थिक लाभ पर ही दृष्टि रखते हैं। जनता के पैसे का कोई महत्त्व नहीं, हमारा काम चालू रहना चाहिए। विज्ञापनों में न भाषा-भाव का खयाल न लोकरुचि का, खयाल सिर्फ टके का रहता है। सम्पादन-सम्बन्धी त्रुटियों के लिए कई बने-बनाये बहाने हैं—समय की कमी, अनुवाद की कठिनाई, सुयोग्य सहकारियों की दुर्लभता इत्यादि ! छपाई की अशुद्धियों के लिए भी—सुन्दर टाइप और अच्छे प्रूफरीडर का अभाव, नागराक्षरों की क्लिष्टता और असामयिकता, प्रकाशन की शीघ्रता इत्यादि ! यह भी शिकायत कि खपत कम है। पहले काफी खपत हो ले, काफी पैसे आने लग जायँ, तब सुन्दर और शुद्ध छपाई की व्यवस्था की जाय ! अच्छी चीज देकर काफी पैसे लेने की शर्त नहीं, काफी पैसे लेने के बाद अच्छी चीज देने की शर्त है ! ये बातें राष्ट्रभाषा

के हित में बहुत बड़ी बाधा हैं। हमारे बिहार में दो ही दैनिक हैं। किन्तु दुःख है कि दोनों के सुयोग्य सम्पादकों का सारा परिश्रम बस मशीन ही चाट जाती है। पता नहीं कि इनके संचालकों का मन क्यों मुर्दा हो गया है जिसमें न राष्ट्रभाषा के गौरव की अनुभूति हो पाती है और न प्रान्त की अप्रतिष्ठा की ग्लानि। बाहर के दैनिक बिहार के दैनिकों से अच्छे हैं; पर उनमें भी सब ऐसे नहीं हैं कि हम उन्हें भारत की अन्य उन्नत भाषाओं के दैनिकों के सामने निस्संकोच रख सकें। काशी के 'आज', 'संसार' और 'सन्मार्ग', कलकत्ता के 'विश्वमित्र' और 'विश्वबन्धु', दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' और 'अर्जुन', 'भारत' (प्रयाग) और 'हिन्दी-मिलाप' (लाहौर) प्रसिद्ध और सुन्दर दैनिक हैं; किन्तु आरम्भ के तीन और अन्त के दो विशेष आकर्षक हैं तथा बीच के चार अपनी नियमित गति से चल रहे हैं। ये पाँच स्पर्द्धावान् हैं और चार केवल कर्त्तव्य-परायण। इन चारों में भी 'विश्वबन्धु' और 'अर्जुन' अधिक सजग हैं। 'प्रताप' (कानपुर) और 'जागृति' (कलकत्ता) उपर्युक्त दैनिकों के आगे नहीं टिक पाते, ये दोनों ही शिथिलप्राय हैं। यदि हम केवल सम्पादन-कला और मुद्रणकला की दृष्टि से ही चुनाव करें और नई-नई उद्भावनाओं की शक्ति भी परखें, तो काशी और प्रयाग को ही श्रेय मिलकर रहेगा। साप्ताहिकों में तो नाम गिनानेवाले ही बहुत हैं, काम दिखानेवाले कम। उनमें से कुछ को सिर्फ बाहरी तड़कभड़क का शौक है, भीतरी सफाई का नहीं। काशी के 'आज' और 'संसार' को दोनों का शौक है। ये ध्यान देने योग्य सभी बातों पर निगाह रखते हैं। वहीं के 'सिद्धान्त' की गंभीरता सराहने योग्य है। वह तो अहमदाबाद के 'हरिजनसेवक' की तरह जितनी ही सादगी उतनी ही पवित्रता से पाठकों को आध्यात्मिक आहार पहुँचाता है। किन्तु वह 'हरिजनसेवक' की तरह जनता पत्र नहीं है, धार्मिक साहित्य के विद्वान रसिकों का पत्र है। जनता के ज्ञानकोष में सुवस्तु-सञ्चय का अनुराग प्रयाग के 'भारत' में अधिक है। प्रति सप्ताह उसके 'साहित्य-विभाग' के चार पृष्ठ बड़े अनमोल होते हैं। वह उपयोगी और आकर्षक विषयों के चुनाव के साथ-साथ छपाई की शुद्धता और स्वच्छता पर भी बराबर ध्यान रखता है। उसकी सादगी में खूबसूरती है। उसकी 'देहाती दुनिया' की सैर करने से असली भारत की झाँकी मिलती रहती है। प्रयाग का सचित्र 'देशदूत' भी अपनेको 'हिन्दीभाषाभाषी भारतीय जनता का पत्र' कहता है और अपने इस कथन की सचाई साबित करने में गफलत नहीं करता। उसकी छपाई-सफाई भी अच्छी होती है। इधर उसका एक भोजन-अंक बहुत अच्छा निकला है। आगरा के 'सैनिक' का खाद्य-विशेषांक और भी अच्छा है। इस सचित्र 'सैनिक' का सम्पादन और मुद्रण पहले बड़ी लगन और सावधानी से होता था। इसके और 'अर्जुन' के सम्पादकीय लेख बड़े जोशीले होते हैं। खण्डवा के 'कर्मवीर' के सम्पादकीय लेखों में व्यंग्य और ध्वनि की व्यंजना, नई सूझ

और नम्र की पकड़, अच्छी होती है। वह राष्ट्र के स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली बातों पर बड़ी मार्मिकता से अपना मत व्यक्त करता है। उसकी सामग्रीसंकलनशैली भी औरों से कुछ निराली है। वह टीमटाम के फेर में नहीं पड़ता। उसे राजनीति और साहित्य के रुख की पहचान है। प्रयाग का सचित्र 'अभ्युदय' अपने अग्रगामी दल का झंडा ऊँचा किये और शंख फूँकते रहने में निरन्तर व्यस्त रहता है। उसका एक सुसम्पादित अँगरेजी संस्करण भी निकलने लगा है। वह 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' पसन्द नहीं करता। अपने स्वतंत्र विचारों के स्पष्टीकरण में वह बहुत निर्भीक है। उसमें सनसनी पैदा करनेवाले लेख प्रायः मिलते हैं। कभी-कभी वह राजनीतिक संसार के गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन करके चकित-स्तम्भित कर देता है। उसका डेढ़ सौ पृष्ठों का 'पाँचवाँ सुभाष-अंक' अनेक अलभ्य चित्रों से अलंकृत और 'नेता जी' के विविध वृत्तान्तों से भरपूर है। लेकिन इस तूफानी धूम-धड़ाके में उसका ध्यान सम्पादन-कौशल की ओर से खिसक-सा रहा है। लोकरुचि पर उसकी धुन का बोझ न पड़ना चाहिए। कांग्रेस-समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादक 'हिन्दी-केसरी' अपने दल की सेवा में तल्लीन रहते हुए भी सम्पादन-सम्बन्धी परिश्रम से उदासीन नहीं है। वह गत पहली मई से इस नये रूप में निकलने लगा है, यों तो वह काशी का तीस वर्ष का पुराना पत्र है। उसके प्रधान सम्पादक हैं 'हिमालय'-पाठकों के परिचित श्री वी० पी० सिनहा और सम्पादक हैं श्रीशिवमूर्ति मिश्र 'शिव' और श्रीईश्वरचन्द्र सिंह। अबतक के उसके कुछ ही अंक नई चेतना, नई प्रेरणा और नई स्फूर्ति का मर्मस्पर्शी सन्देश लेकर आये हैं। वह केवल ज्ञान नहीं बढ़ाता, हृदय की वेदना भी बढ़ाता है। उसका काम दिल बहलाना नहीं, दिल के सोये दर्द को जगाना है। आशा है कि युग की पुकार को वह जनता तक पहुँचा सकेगा। कानपुर के 'प्रताप' ने किसी दिन जनता तक युग-सन्देश पहुँचाया था; पर आज वह पूर्ववत् अपने ध्येय का धीर धुनी न रहा। उसका उज्ज्वल अतीत उसके वर्तमान का शव कबतक ढो सकेगा? उसकी छपाई कलम की कमाई खा जाती है। यही हाल खंडवा (मध्यप्रदेश) के 'स्वराज्य' का है। वह श्री काका कालेलकर के लिपि-सुधार का समर्थक है। यह सुधार बहुत महँगा पड़ रहा है। अनभ्यस्त पाठक को पग-पग पर हलवे में कंकड़ मिलते हैं। सच पूछिए तो जबलपुर का 'शुभचिन्तक' इधर काफी उत्साह दिखा रहा है। दुरंगी छपाई और सजावट के साथ ही वह पाठ्यसामग्री पर भी ध्यान रखता है। कानपुर का 'रामराज्य' भी ऐसा ही करता है। यदि ये दोनों थोड़ा और सावधान हो जायँ तो इनकी सेवा से पाठकों को बड़ा सन्तोष होगा। नागपुर के 'लोकमत' से भी यही कहना है। वह पाठ्य विषय की तरह छपाई पर ध्यान नहीं देता। किसी भी पत्र के लिए ये दोनों बातें जरूरी हैं, नहीं तो सब गुड़ गोबर हो जाता है। 'लोकमत'

के सञ्चालक पण्डित रामशंकरजी त्रिपाठी ही दिल्ली से 'लोकमान्य' और बम्बई से 'छाया' निकालते हैं। इन दोनों की छपाई में भी वैसी ही लापरवाही है। दुरंगे भड़कीले आवरण और चित्र-बाहुल्य से बाजार पर कब्जा किया जा सकता है, पर साहित्यजगत् पर सिक्का नहीं जमाया जा सकता। बिना अमनिया किया हुआ सीधा रसोई का स्वाद तो बिगाड़ता ही है, रोग का कारण भी बन जाता है। त्रिपाठीजी बड़े समर्थ पत्रकार हैं। क्यों न उनसे सुसम्पादित पत्र पाने की आशा की जाय? आशा तो 'विश्वमित्र'-संचालक से भी की जाय तो अनुचित न होगा। उनका 'विश्वमित्र' इस युग में भी अपनी पुरानी लीक पर पुरानी ही गति से जा रहा है। यदि उसका पड़ोसी 'आदर्श' कहीं होड़ बदकर उसके सामने अड़ा न होता तो शायद उसके जीवन का छकड़ा जहाँ का तहाँ पड़ा रहता। बँगला के सुन्दर साप्ताहिकों के अखाड़े में सामर्थ्यशाली 'विश्वमित्र' को काँख-तले लँगोट दबाये चुप खड़ा देखकर भला कौन हिन्दीप्रेमी उसे ललकारे बिना मानेगा? हिम्मत सराहिए 'आदर्श' की जो अकेला ही धार पर डटा हुआ है। उसकी शान की बलिहारी! हवड़ा की 'जागृति' बेचारी तो उसे दम-दिलासा देने में भी असमर्थ है। यह बेचारी खुद ही सुषुप्ति की दशा झेल रही है। इसलिए, इसे न भाषाभाव की खबर है न शुद्ध छपाई की। इसके छोटे-बड़े शीर्षकों के अक्षर अंगभंगी में शिवजी के गणों को भी चुनौती देते हैं! हमारे हिन्दी-पाठक धन्य हैं जो हिन्दी के हित के लिए मक्खी तक निगल जाते हैं! और हमारे ये देवता तो प्रणम्य ही हैं जो अशुद्ध भाषा और अशुद्ध छपाई के बल पर हिन्दी का झंडा ऊँचा रखने का दुस्साहस करते हैं। खेद है कि पत्रजगत् में छपाई की शुद्धता-स्वच्छता का मूल्य या महत्त्व ठीक-ठीक नहीं समझा जाता। उदयपुर के 'नवजीवन' का प्रताप-अंक उदाहरणार्थ देखिए। उसकी भ्रष्ट छपाई कसाई की तरह रुचिर रचनाओं की गर्दन रेत रही है। हमारे बिहार में तो पटना के 'योगी' और 'हुंकार' तथा गया की 'ऊषा' और मुजफ्फरपुर के 'तिरहुतसमाचार' को ही कुछ होश सँभालकर निकलने का शऊर है, 'नवशक्ति' तो बेहोशी में ही निकल पड़ती है। कभी तो उसके मोटे टाइप के शीर्षक भी प्रदर्शनी में रखने योग्य मिल जाते हैं। राष्ट्रीयता के नशे में जैसे 'राष्ट्रवाणी' बनारसी नाक-कटैया के स्वांगों को मात करती है वैसे ही 'नवशक्ति' भी अपनी साधनसम्पन्नता का नाहक उपहास कराती है। उसके सम्पादकीय और अन्य लेख तो बड़े काम के होते हैं, मगर उसकी सुरसा मशीन बड़ी खब्कड़ है—वह सम्पादक के कीर्त्ति-मारुति को खड़ा ही लील जाती है। यद्यपि नीति की दृष्टि से 'योगी' उग्र और अग्रसर है तथापि छपाई के खयाल से 'हुंकार' का लोहा उसे मानना चाहिए। वह मसाला बढ़िया जुटाता है, मगर चखाता है उतावले हाथों से। 'ऊषा' के सम्पादकीय लेख अपने नये तरुण सम्पादक की सफाई का तकाजा पेश करते हैं।

'तिरहुतसमाचार' में आगे बढ़ने का हौसला बड़ा जबरदस्त है, इसलिए उसे इसके नुस्खे का अनुपान ठीक जानना चाहिए। मुँगेर का 'प्रभाकर' अगर अनाड़ी प्रूफरीडरों का शिकार न होता तो उसकी प्रभा पर बादलों की छाया न पड़ती, बल्कि वह दूर-दूर तक फैल जाती। देशी राज्य के साप्ताहिकों में ग्वालियर का 'जयाजीप्रताप' ही सुन्दर और उपयोगी है। वहाँ का 'जीवन' प्रजा के अधिकार-क्षेत्र का बहादुर सूरमा है। जयपुर की 'लोकवाणी' को देशी राज्य का सर्वप्रथम दैनिक होने का यश और गौरव प्राप्त हो गया, यह प्रजा के मर्दित हितों पर अमृतवृष्टि के समान है। —शिव

कुछ त्रैमासिक और द्वैमासिक पत्र

इस समय हमारे सामने तीन त्रैमासिक और दो द्वैमासिक हैं। त्रैमासिक हैं—'राजस्थान-भारती', 'लोकवार्त्ता' और 'पारिजात'। द्वैमासिक—'नया साहित्य' और 'निर्माण'। 'भारती' का पहला अंक गत अप्रैल (१९४६) में निकला है। वह बीकानेर के 'सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टिट्यूट' की मुखपत्रिका है। तीन विद्वान उसके सम्पादक हैं—श्रीदशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्; श्रीअगरचन्द नाहटा; श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०, विद्यामहोदधि। वार्षिक मूल्य ८) और एक अंक का २॥) है। सार्वजनिक संस्थाओं, महिलाओं, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए रियायती वार्षिक मूल्य ५) होगा। पृष्ठसंख्या १३०। बहुत अच्छे कागज पर बड़ी सादगी, सफाई और सुन्दरता से छपी है। बीकानेर-नरेश, दोनों राजकुमार और राज्य के दीवान के चित्र भी हैं। एक चित्र बीकानेर-म्यूजियम की जैन-सरस्वती की प्राचीन मूर्त्ति का है। जिस संस्था की यह पत्रिका है वह बीकानेर-नरेश महाराजा श्रीसादूलसिंहजी बहादुर के संरक्षण में गत वर्ष मार्गशीर्ष मास में स्थापित हुई थी। इसमें विशेषतया राजस्थान के साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, लोकजीवन, कला एवं संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले खोज-भरे निबंध प्रकाशित होंगे और नव-निर्मित आधुनिक राजस्थानी साहित्य के लिए भी कुछ पृष्ठ रखे जायँगे। इसमें लेखों के पाँच विभाग हैं—निबंधमाला-हिन्दीविभाग, राजस्थानी लोकसाहित्य, प्राचीन राजस्थानी साहित्य, आधुनिक राजस्थानी साहित्य, निबंधमाला-अंग्रेजी-विभाग। अन्त के पचीस पृष्ठों में संस्था का प्रथम वार्षिक कार्यविवरण है। पहले विभाग में आठ लेख हैं—पृथ्वीराज रासो, जोगमाता का गीत, राजस्थानी साहित्य, कविवर जान और उसके ग्रंथ, चरलू के शिलालेख, बीकानेर का एक आदर्श संग्रहालय, राजस्थान की वर्षा-सम्बन्धी कहावतें, राजस्थानी मुहावरे। दूसरे विभाग में कहावतें और वर्षाऋतु के गीत हैं। तीसरे में राजस्थानी चारणी गीत हैं। चौथे में वर्तमान छ राजस्थानी कवियों की रचनाएँ हैं। पाँचवें में 'मूल पृथ्वीराजरासो—एक अपभ्रंश काव्यग्रंथ' पर अंग्रेजी निबंध है। आँख से सम्बन्ध रखनेवाले [illegible] मुहावरे [illegible] हैं। उनका संक्षिप्त

भावार्थ भी दिया गया होता तो अन्य प्रान्तों के लोग भी राजस्थानी मुहावरों की बारीकी और खूबी सुगमता से समझ जाते। कहावतों में भी कहीं-कहीं टिप्पणियों की जरूरत है। विद्वान सम्पादकों से नम्र निवेदन है कि वे इसपर ध्यान देने की कृपा करें। वर्षाऋतु के गीतों और चारणी गीतों के भावार्थ दिये गये हैं, इससे गीतों का रसास्वादन करने में आनन्द आता है। आधुनिक रचनाओं के साथ संक्षिप्त वक्तव्य और टिप्पणियाँ भी हैं। इसके कुछ लेखों का परिचय अगली बार दिया जायगा। ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर पत्रिका के लिए बीकानेर-दरबार के हिन्दीप्रेम और साहित्यानुराग की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। राजस्थानी साहित्य का उद्धार तो इससे होगा ही, हिन्दीसाहित्य का भी बहुत उपकार होगा। ऐसी ही पत्रिका प्रत्येक प्रान्त से निकलनी चाहिए। टीकमगढ़ (मध्यभारत) की लोकवार्ता-परिषद् की मुखपत्रिका 'लोकवार्ता' भी लगभग ऐसी ही पत्रिका है। वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीकृष्णानंद गुप्त के सम्पादकत्व में निकलती है। उसका वार्षिक मूल्य ६) और एक प्रति का १॥) है। उसके दूसरे वर्ष के दूसरे अंक (अप्रैल १९४६) में दस लेख हैं—भारत की वन्य जातियाँ, कुछ जनपदीय शब्दों की पहचान (डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल), गुजरात का लोकसाहित्य, देवीदेवताओं की बैठक, कुचबँदियों में अग्नि-परीक्षा की प्रथा, धान की खेती की शब्दावली, दो बुन्देलखण्डी गप्पें, एक बहुप्रचलित प्राचीन खेल (सम्पादक), बुन्देलखण्ड के लोक-विश्वास। अन्त में चिट्ठीपत्री, सूचनाएँ और जिज्ञासाएँ हैं। पहला लेख 'दि एबोरिजिनल्स' नामक प्रसिद्ध अँग्रेजी-पुस्तिका के आधार पर लिखा गया है, जो आगामी अंक में पूरा होगा। अन्य सभी लेख मौलिक हैं। लेखसूची में दो लेखों का उल्लेख नहीं किया गया है—सुनारों की सांकेतिक भाषा (श्रीगणेश चौबे, चम्पारन-निवासी), गोंड़ और गोंड़वाना (श्रीकुँवर कन्हैया जू)। दूसरा लेख, डॉक्टर अग्रवाल का, सबसे बढ़कर मौलिक है। उसमें दस ग्रामीण शब्दों के प्राचीन एवं अर्वाचीन अर्थों और प्रयोगों का विश्लेषणात्मक अनुसन्धान किया गया है जिससे लेखक की बहुज्ञता, बहुश्रुतता और स्वाध्यायपरायणता प्रकट होती है। सम्पादकजी का खेल-सम्बन्धी लेख भी बहुत-कुछ वैसा ही है। 'गुजराती लोकसाहित्य' पढ़कर चित्त भक्तिगद्गद् और शरीर पुलकित हो उठा। 'धान की खेती की शब्दावली' की अपनी खास मौलिकता और विशेषता है। 'सुनारों की भाषा' में लेखक की सूझ, खोज की लगन और श्रमशीलता सर्वथा श्लाघ्य है। दलालों, चोरों, कहारों आदि की भाषा पर भी चौबेजी को श्रम करना चाहिए। बिहार में भी एक ऐसी ही पत्रिका की जरूरत है जो मैथिली, मगही, भोजपुरी, सन्ताली आदि भाषाओं के साहित्य की छानबीन करती रहे। ग्रन्थमाला-कार्यालय (बाँकीपुर, पटना) के 'पारिजात' का दूसरा अंक सरकारी प्रतिबन्ध के कारण पाँच महीने पर निकला है।

अब वह जुलाई से मासिक पत्र के रूप में निकलने जा रहा है। उसके नये सम्पादक होंगे हिन्दी के यशस्वी समालोचक प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी (हिन्दूविश्वविद्यालय)। प्रस्तुत अंक के सम्पादक प्रोफेसर रामखेलावन पाण्डेय ने लेखों का संग्रह अच्छा किया है -- हिन्दीकविता और छन्द (श्री 'दिनकर') ; कलाकार और समाज ; वक्रोक्तिवाद (पं० रामदहिन मिश्र ; विडम्बना (रेखाचित्र); भारतीय संस्कृति की देन (पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी); पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा (संस्मरण आदि पठनीय और मननीय लेख हैं। चार कविताएँ भी हैं—गीत ('निराला'), बारहमासी ('राकेश'), मैं (श्रीनिरंकारदेव सेवक), स्वप्न (श्रीहरेन्द्रदेवनारायण)। दुर्भाग्यवश 'गीत' तो हम समझ ही न सके। 'बारहमासी' में अलबत आनन्द आया। 'मैं' पर इस युग की प्रगतिशीलता की छाप है। 'स्वप्न' का भाव बहुत सुन्दर है जो मन पर गहरी छाप छोड़ जाता है। 'वक्रोक्तिवाद' और 'विडम्बना' तथा दिनकरजी और द्विवेदीजी के लेख हमें सबसे अधिक पसन्द आये ; क्योंकि उन्हें आद्यन्त पढ़ने में मन रमा रहा। 'बिहार में देशी भाषाओं की शिक्षा' और 'बँगला-साहित्य' तथा 'आधुनिक अंग्रेजी नाटक' को ज्ञानवृद्धि के लिए पढ़ जाना पड़ा और इनसे सचमुच जानकारी बढ़ी भी, मगर धैर्य की भी अग्निपरीक्षा हो गई। श्रीतारकेश्वर प्रसादजी के एकांकी ('शीर्षकहीन नाटिका') में ये पंक्तियाँ समयानुकूल जँचीं—"आज कला की सृष्टि भी कला की हत्या हो रही है ! वेदना-शून्य और अनुभूतिशून्य कला हमारे पतन की निशानी है। आज हमारी जनता आज की कला से प्रभावित नहीं है—इसलिए नहीं कि कला से उसे प्रेम नहीं है और इसलिए नहीं कि कला के उदात्त और प्रेरणात्मक गुणों से वह अपरिचित है, बल्कि इसलिए कि कला उसके दैनिक जीवन में प्रवेश नहीं पा सकी है। क्यों प्रवेश नहीं पा सकी है, इसका कारण पूँजीपतियों का संरक्षण और भावुक कलाकारों की अस्वस्थता है। यह निश्चित है कि आज की भयंकर कुरूपता में कला नहीं पनप सकती—आज के वीभत्स रूपों और परिस्थितियों में कला एक रोग है। इसकी अस्वस्थता यक्ष्मा-पीड़ितों के चेहरे पर छाई अस्वाभाविक लाली की तरह है।" इन्हीं पंक्तियों का वक्ता पात्र 'बलराम' एक जगह कहता है—"शुतुरमुर्ग और स्त्रियों में इतना ही अन्तर है कि शुतुरमुर्ग दुनिया से अपनेको छिपाने के लिए अपना सिर बालू के अन्दर कर लेता है और स्त्रियाँ दुनिया को यथार्थ रूप में नहीं देखने के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेती हैं।" बलराम की एक यह उक्ति तो इस युग की ललाट-लिपि-सी जान पड़ी—"विवाह ! हुश ! विवाह क्यों ? आनन्द बन्धनहीन होना चाहिए।" हाँ, 'नया साहित्य' और 'निर्माण' का परिचय हम पिछली बार दे चुके हैं। पहले में छपी तीन कविताएँ अच्छी लगीं—'आज बनो तुम फिर नव मानव' (पन्तजी), यज्ञप्रतिमा (डा० रामविलास शर्मा), भूखा (बच्चनजी)।

'नये युग का गीत' भावपूर्ण तो है, मगर 'हर चरणों की है चाप नई' इस एक ही पंक्ति ने बार-बार मन को पेरकर मजा किरकिरा कर दिया। उसमें 'मानवी स्वर्ग' भी अशुद्ध प्रयोग है। श्रीभगवतीचरण वर्मा की कविता 'मनुष्य के प्रति' बड़ी ओजमयी है। उसमें भी 'सशक्त' शब्द का प्रयोग खटकनेवाला है। श्रीनरेन्द्र शर्मा की तीन कविताओं में 'हिन्दू-मुसलमान' एक ऐसी चीज है जिसकी लाखों प्रतियाँ छपवाकर जनता में बँटवाने की जरूरत है। शुरू का पहला लेख 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' (श्रीगुलाबरायजी) भाषा-भाव की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है। उसकी व्यंजनाएँ ध्वनिपूर्ण हैं। उसमें 'चणे-चणे यन्नवतामुपैति' का अशुद्ध रूप छपा है—'चणे चणे यन्नवतामुपैति' ! इस पत्र के प्रथम भाग में भी डाक्टर रामविलास शर्मा के विद्वत्तापूर्ण लेख 'आदिकाव्य' में कई श्लोकों के चरण अशुद्ध छपे थे। प्रस्तुत अंक का दूसरा लेख (पन्त का 'मानव') आलोचक की दुर्बोध अभिव्यक्तियों के कारण जमा नहीं है, बिखरा-सा जान पड़ता है। उसकी अस्पष्टता ने सरसता को ग्रस लिया है। पन्तजी उसमें साम्यवादी (कम्युनिस्ट) सिद्ध किये गये हैं। किन्तु कवि तो मानवता का अग्रदूत है, किसी दल या मत का अनुयायी नहीं। यदि कोई कवि केवल काँग्रेसी या लीगी है तो बस चन्द रोज का मेहमान है। पन्तजी तो युगान्तव्यापी यश के धनी हैं। लेख की अन्तिम पंक्ति विचारणीय है—"पन्त जी का सौन्दर्यदर्शन लोकप्राण है और इसी कारण उसमें आनन्दोन्मुख और आशावाद है।" यहाँ 'आनन्दोन्मुख' चस्पाँ नहीं होता। श्री अश्कजी का प्रहसन 'पक्का गाना' कुरुचि का उत्तेजक है। उसके अश्लील गीत शिष्ट समाज के योग्य नहीं। सज्जाद जहीर साहब का लेख (हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी) बड़ी खोज और मेहनत से लिखा गया है। उसमें एक-दो बातें भ्रमात्मक हैं। जैसे—"बीसवीं सदी के आरम्भ में नागरीप्रचारिणी सभा (काशी) की स्थापना हुई" (पृष्ठ ४४)। नहीं, उन्नीसवीं सदी के अन्त में, सन् १८९३ ई० में। फिर "हिन्दी-उर्दू झगड़े का आरम्भ लगभग १९०० से होता है" (पृ० ४५)। हिन्दीसाहित्य का इतिहास साक्षी है, उन्नीसवीं सदी के मध्योत्तरकाल में यह झगड़ा शुरू हो चुका था। विद्वान लेखक ने अन्त में इस समस्या का हल यह बतलाया है—"भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और उर्दू दोनों हों। जिसका जो जी चाहे सो भाषा सीखे।" अगर यह 'हल' भारतभूमि पर चल सका तो एक अंगुल धरती भी परती न रहेगी। श्रीकेदारनाथ अग्रवाल की 'तीन कविताएँ' वास्तव में भाषा-भाव की दृष्टि से 'कविताएँ' नहीं हैं ; सरल तुकबन्दियाँ हैं। उनमें सामयिकता है, कवित्व नहीं। सीधीसादी भाषा में सामयिक बातें कहकर भी कवि चमत्कार पैदा कर सकता है, तिरपनवें पृष्ठ पर बच्चनजी का 'भूखा' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाठकों को स्मरण होगा, हम पिछली बार कह चुके हैं कि [illegible] भाषा और साहित्य पर श्रीशिवदानसिंहजी

चौहान का लेख इस अंक की सबसे सुन्दर चीज है। 'निर्माण' का भी परिचय हम पिछली बार दे चुके हैं। उसके प्रस्तुत अंक के आरम्भ में ही सम्पादकजी कहते हैं—"बीज से महा-वट बनकर जो आज किरणें रोक रहा है जिसकी रूढ़ियाँ जटाओं के समान लौटकर पृथ्वी को ग्रस लेना चाहती हैं, जिसकी शाखाओं में पंछी विडंबित हैं क्योंकि भीतर पलनेवाली नागिनी डस रही है, खा रही है, आज हमारा नया यौवन इस जर्जर पापलिप्त बुढ़ापे की जड़ों को खोद डालना चाहता है, क्योंकि सद्यजात प्रसून ही वास्तव में प्रत्येक युग का सशक्त (?) वरदान है।" हमारे मत से, यौवन का आवेश अवश्य ही अभिनन्दनीय है, पर उसके साथ संयम का सहयोग भी वाञ्छनीय है। निर्माण के लिए सिर्फ जोश की ही जरूरत नहीं है, होश की भी है। किसी महानगर का 'इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट' अगर निर्माण-कार्य की सुविधा के लिए 'एटम बम' से काम लेने लगे तो उसके निर्माण से जनकल्याण नहीं हो सकता। हम न प्राचीनता के अन्धभक्त हैं न नवीनता के। हमारी धारणा है कि बुढ़ापे की अनुभूतियाँ और जवानी की उमंगें दूध-मिसरी होकर ही स्थायी निर्माण कर सकती हैं। जो कुछ प्राचीन है सब त्याज्य है और जो कुछ नवीन है सब ग्राह्य है, इस नीति से तो निर्माण का दीपनिर्वाण हो जायगा। साहित्य के नवनिर्माण का दायित्व अत्यन्त गम्भीर है। पहले तो 'निर्माण' की सतह दुरुस्त होनी चाहिए, तब अच्छी इमारतें खड़ी हो सकेंगी। भाषा और छपाई की शुद्धता पर यथोचित ध्यान न देने से ठोस निर्माणकार्य न हो सकेगा। आरम्भ का लेख 'साहित्य की नई दिशा' नवयुग की उद्दीप्त चेतना का प्रतीक है। उसके क्रान्तिकारी भावों की झलक उसकी इन अंतिम पंक्तियों में देखिए—"हिन्दी का युवा कवि सामाजिक अन्याय और कुरूपता को नवयुग की गंगा में बहाकर साफ कर देना चाहता है। अपने क्षोभ में वह सभी कुछ प्राचीन डुबा देना चाहता है।" श्रीविष्णुजी और श्री अमृतरायजी की कहानियाँ—(क्रमशः) 'खंडित पूजा' और 'झंखड़ बिरवा'—अच्छी बन पड़ी हैं। पहली में सरसता की निर्झरिणी राष्ट्रीयता की नदी बनकर देशानुराग-सागर में विलीन हो गई है। कहानी के नाटकीय अवसान का आकस्मिक प्रभाव बड़ा जबरदस्त है। दूसरी में मँजी हुई भाषा, सुहावनी शैली, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, घरेलू जीवन का चित्र, करुणा की फुहार, सब कुछ है। उसकी ये पंक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं—"हँसते बच्चे को कभी न छेड़े। बच्चों ही के रूप में तो भगवान् रहते हैं। बच्चे ही तो घर की शोभा हैं। उनकी इस धमाचौकड़ी से ही तो जिन्दगी का सूनापन कटता है, घर में सावन रहता है। बच्चे ही तो इस रामजी की बगिया के फूल हैं।" प्रसिद्ध कहानी-लेखक पण्डित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का लेख 'हिन्दीलेखक और उनका पारिश्रमिक' विशेषतः लेखकों और पत्रकारों के ध्यान देने योग्य है। 'अंतिम विजय'

(एकांकी) द्रविड़ देश के एक प्राचीन कथानक पर आश्रित और ओजपूर्ण है। कविताओं में कुमारी निर्मला माथुर की 'कामना' बहुत सुकुमार हैं। 'पयाम' (श्रीकेदारनाथ अग्रवाल) की सिर्फ अन्तिम दो पंक्तियाँ ही अच्छी हैं—"उबाल, जोश, आग, गाज, जिन्दगी का नाम है; महान् क्रान्ति का विधान जिन्दगी का काम है।" नारी-सम्बन्धी तीन कविताओं की कुछ पंक्तियों में भाषा और छपाई की भूलें हैं, कुछ में भाव का भद्दापन। 'आज हिन्दुस्तान जागा' की आरम्भिक और अन्तिम पंक्तियाँ भावोद्दीपक हैं, बाकी सब राष्ट्रीय आल्हा है। अन्तिम लेख 'लोकगीत' में कालिदास के शाकुन्तल की यह सूक्ति 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' अशुद्ध रूप में यों छपी है—'आर्थोहि कन्या परकीवएव'! आरम्भ की शीर्षकहीन कविता इस पत्र का लक्ष्य और सन्देश व्यक्त करती है। आशा है, 'निर्माण' प्रतिभा और परिश्रम का रमणीय संगमस्थल बनकर साहित्य का मालिन्यमोचन करेगा। —शिव

कुछ प्रमुख मासिक पत्र

हमारे मासिकपत्रों में 'विशालभारत' (कलकत्ता) ही एक है जो एक-एक अंगुल स्थान का सदुपयोग कर अपने पाठकों को यथेच्छ पाठ्यसामग्री देता है। उतना ठस मसाला अँटाने की कोशिश कोई पत्र नहीं करता। एक तो छोटे टाइप की साफ-सुथरी छपाई, दूसरे विभक्तियाँ सटी हुई, तीसरे सादगी की साध; इससे तिल-भर जगह भी बेकार नहीं जाती। इसके सम्पादक श्रीमोहनसिंह सेंगर चुनिन्दा लेखों के चुनाव में बड़े कुशल हैं। अप्रैल के अंक में देखिए—"लंका का भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध और हिन्दी, कश्मीर के लोकगीत, एण्टन चेखव (जीवनी), गीतिकाव्य का पारिभाषिक विवेचन, रससिद्धान्त और प्रगतिवाद, राष्ट्रभाषा और लिपि (डा० उदयनारायण तिवारी), सोवियत रूस के समाचारपत्र, मौलाना गान्धी (श्रीमन्नारायण अग्रवाल), तमिल का एक काव्य 'तिरुक्कुरल', खौलता खून (श्रीरांगेय राघव)"—कितने आकर्षक लेख हैं! धारावाहिक उपन्यास और कहानियाँ अलग हैं। देहरादून-जिले के एक पहाड़ी भूभाग 'जौनसार बाबर' का सचित्र परिचय बहुत रोचक है। 'वर्गविभक्त समाज' एक गवेषणापूर्ण उत्कृष्ट लेख है। कविताओं में मुखपृष्ठ का 'हिमालय-अभियान' ('राकेश') एक सुदीर्घ एवं सुचारु रचना है—तीन पृष्ठों में सजाई हुई, नहीं तो हम उसे अवश्य ही यहाँ उद्धृत करते। इसमें हिमालय की चढ़ाइयों का रोमांचक और हृदयग्राही वर्णन है। श्रीरांगेय राघवजी की कविता 'संधि का पाप' उनके उपर्युक्त लेख के समान ही सजीव, उन्मादक और मर्मस्पर्शी है। इन दोनों में भारतीय युवक-दल के अधीर हृदय का असली चित्र है। दोनों रचनाएँ लेखक की ललकार-भरी जवानी की ज्वालाएँ हैं। मई के अंक के मुखपृष्ठ पर भी राघवजी की एक कविता है—'परदेसी का राज न हो' और इसमें भी उनका हृदय की प्रेरणा[illegible] नजर आती है। श्री 'राकेश'जी और

श्रीकमलाकान्त पाठक की कविताएँ (रणशृङ्गी और नववसन्त) भी मुखपृष्ठ पर ही हैं। इनमें भी वही जुझाऊ राग, वही जलती आग है। अन्त में भी दो सुन्दर कविताएँ हैं—'एलोरा' (डा० बलदेव प्रसाद मिश्र) और 'नये मानव का उदय हो' (श्रीदेवराज)। शुरू का पहला लेख 'शृङ्गार-रस' अपने विद्वान लेखक (प्रो० नगेन्द्र) की स्वाध्याय-साधना और चिन्तनशीलता का साक्ष्य दे रहा है। उसमें शृङ्गार-रस का मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक विवेचन बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से किया गया है। अन्त में कहा गया है—"पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार समझा जाता था; परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं, अहितकर भी माना जाता है। क्षुधा और काम जीवन की मुख्यतम प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति जीवन के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है; उनका दमन, गोपन अस्वाभाविक है और उनको अतीन्द्रिय रूप देना मन की छलना है। प्रगति-वाद का तत्त्वतः शृङ्गार के प्रति यही दृष्टिकोण है। परन्तु अभी उसकी उपयुक्त अभि-व्यक्ति के लिए उचित सामाजिक वातावरण तैयार नहीं है। भावना के स्वास्थ्य का वह युग अभी आने को है।" इसके आगे—गायनाचार्य विष्णुदिगम्बर (प्रामाणिक जीवनी), आधुनिक तेलुगू-कहानी-साहित्य, कला और प्रचार, जायसी का युद्धवर्णन, टामस हार्डी (आलोचनात्मक परिचय) आदि पठनीय लेख हैं। 'तस्वीर का दूसरा पहलू' नामक अपने हिन्दी-हिन्दुस्तानी-विषयक लेख में श्रीकौसल्यायनजी ने बड़े मार्के की एक बात लिखी है—"श्रीमन्नारायणजी के लेख से हमें यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि बापू आजकल जहाँतक सम्भव हो हिन्दुस्तानी में ही लिखते हैं। अंगरेजी 'हरिजन' में उनका अनुवाद छपता है। और वह मूल हिन्दुस्तानी लेख? निश्चयात्मक रूप से उन्हें 'हरिजनसेवक' में छपना चाहिए और छपते ही होंगे। लेकिन 'हरिजनसेवक' में प्रकाशित लेखों के साथ 'हरिजन' (अंगरेजी) से उद्धृत ही लिखा रहता है। पाठक पर संस्कार पड़ता है कि बापू के मूल लेख अंगरेजी में रहते हैं, हिन्दी 'हरिजनसेवक' में तो अनुवाद-मात्र छपता है। ऐसा न होकर यदि अंगरेजी 'हरिजन' में 'हरिजनसेवक से' हिन्दी का नाम रहे तो हमें विश्वास है कि बापू के लेखों को मूल रूप में पढ़ने के लिए अनेक लोगों को अपना अंगरेजी-प्रेम कम करना ही पड़ेगा।" फिर आगे एक और पते की बात लिखी है—"आचार्य नरेन्द्रदेव हिन्दी-उर्दू दोनों के असाधारण वक्ता हैं। उस दिन बम्बई की अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी में आपका भाषण ठेठ उर्दू में था। किसी ने पूछा—'आचार्यजी, बम्बई में ऐसी उर्दू बोलने की क्या आवश्यकता थी?' वे बोले—'देखो भाई, मैं जब हिन्दी में बोलता हूँ, हिन्दी में बोलता हूँ। उर्दू में बोलता हूँ, उर्दू में बोलता हूँ। मैं हिन्दुस्तानी में कभी नहीं बोलता।' अब बताइए, उर्दू-हिन्दी के ज्ञान से उर्दू + हिन्दी मिलकर कितनी हिन्दुस्तानी बनी? और

मजा यह है कि आचार्यजी हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य हैं!" सचमुच कौसल्यायनजी राष्ट्रभाषा के अनन्य भक्त हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी उनके सभी लेखों का संग्रह शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। यह काम 'सभा' या 'सम्मेलन' का है। हाँ, जून का 'विशालभारत' भी हमें मिल गया है, उसे पढ़कर अगली बार परिचय देंगे। अप्रैल और मई की 'सरस्वती' (प्रयाग) हमारे सामने है। उसमें प्रवासी की आत्मकथा (स्वामी भवानीदयाल संन्यासी), भाषा का विकास, आधुनिक मराठी उपन्यास की रूप-रेखा, उभयालंकार, सप्तसिन्धु, मराठी में एक महाग्रन्थ, दक्षिणभारत-हिन्दी-प्रचारसभा किधर? (श्रीरविशंकर शुक्ल), सम्राट अकबर की जन्मतिथि, विद्यापति के गीत, मराठी साहित्य के भीष्म पितामह आदि लेख ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से पढ़ने योग्य हैं। ३४४ पृष्ठ पर श्रीसीताराम शास्त्री का हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी लेख भी ध्यान देने योग्य है। मई के अंक में सम्पादकीय टिप्पणियाँ आरम्भ में ही छपी हैं। पंडित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का लेख (मध्यपूर्व का विग्रहकेन्द्र) मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। 'किसानों का ऋण' और 'प्रज्वलित इण्डोनेशिया' सामयिक लेख हैं। सदानन्द की काव्यपद्धति, प्रसाद का कवि, हम हिन्दीवाले, महाकवि शम्भु, गजराज—एक अज्ञात कवि, 'भिखारी' का गंगा-दहार आदि साहित्यिक लेख विशेष महत्त्व के हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण लेख है 'बीसवीं शताब्दी में उर्दू' (मुन्शी महेशप्रसाद मौलवी-आलिम-फाजिल) जिसमें मुन्शीजी ने कुरानशरीफ के २८ अनुवाद-ग्रन्थों की सूची दी है और बतलाया है कि हिन्दी और उर्दू का झगड़ा ही उर्दू के अधिक प्रचार का कारण है। लिखते हैं—"१६०३ ई० में अंजुमन-तरक्की उर्दू (दिल्ली) की नींव पड़ी। इसके द्वारा एक सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हमारी जबान' एक पाक्षिक पत्र निकलता है जो भारी संख्या में छपता है, वार्षिक मूल्य केवल एक रुपया है। 'उर्दू' नाम की त्रैमासिक पत्रिका भी अच्छे ढंग पर प्रकाशित होती है। 'साइन्स' नाम की उच्च कोटि की एक मासिक पत्रिका भी। गत जनवरी से 'मआशियात' नामक उच्च कोटि की एक मासिक पत्रिका के प्रकाशन का प्रबन्ध हुआ है। अँगरेजी-उर्दू का जैसा अच्छा कोश प्रकाशित हुआ है वैसा अँगरेजी-हिन्दी का कब कहीं से निकलेगा, नहीं कह सकता।" आगे चलकर उन्होंने ऐसी दस संस्थाओं के नाम दिये हैं जो निरन्तर उर्दू के प्रचार में दत्तचित्त हैं। एक बात उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसपर हिन्दी के हिमायतियों को शीघ्र ध्यान देना चाहिए—"जो लोग हिन्दी का भार उठाये हुए हैं उनके ऊपर राजनीतिक या धार्मिक या कोई अन्य भार भी है और अंजुमन-तरक्की-उर्दू के प्राण मौलाना डाक्टर अब्दुल हक साहब ऐसे हैं जो अपने ऊपर केवल उर्दू का ही भार रखे हुए हैं। उनको रात-दिन, भीतर-बाहर जो कुछ सोचना या करना है वह केवल उर्दू के ही लिए है। [illegible] हैं [illegible] उर्दू के हक में जबान ही हैं।

मेरे विचार से उनकी टक्कर का कोई व्यक्ति हिन्दी के लिए काम करनेवाला नहीं है।" इसके बाद मुन्शीजी ने बतलाया है कि दक्षिण-हैदराबाद के उस्मानिया-विश्वविद्यालय में उर्दू की उन्नति के लिए जो अनुवाद-विभाग और सम्पादन-विभाग स्थापित हैं उनसे अबतक तीन सौ से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं और लगभग इतनी ही तैयार की जा रही हैं तथा १६१७ ई० से अबतक अनुमानतः तीन करोड़ रुपये खर्च हुए हैं। हमारे हिन्दीप्रेमी देशी रजवाड़े न जाने कब अँखफोड़ होंगे! मुन्शीजी की एक बात और भी ध्यान आकृष्ट करनेवाली है—"मेरा अपना खयाल है कि लाहौर से उर्दू के जितने समाचारपत्र निकलते हैं उतने किसी अन्य भारतीय भाषा में भारत के किसी अन्य नगर से नहीं निकलते। बम्बई से लगभग एक दर्जन उर्दू-दैनिक निकलते हैं, लगभग पचास साप्ताहिक भी। कई उच्च कोटि की मासिक पत्रिकाएँ भी।" हमारे 'सम्मेलन' का ध्यान इस लेख की ओर अवश्य गया होगा। जून के 'हंस' (काशी) का जो पहला लेख (अकालोत्तर बँगला संस्कृति) है उसमें लिखी आधुनिक बँगला-साहित्य की उन्नति की बात भी ध्यान में रखने योग्य है। उसकी ये पंक्तियाँ स्वयं मुखर हैं—"कागज-नियंत्रण, चोरबाजारी, महाकाल की क्रूर दृष्टि, इन सबके बावजूद पिछले दो-तीन वर्षों के अन्दर बँगला-भाषा में जितनी और जितने प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनका सही आँकड़ा निकालकर अगर हिन्दी के साहित्य से तुलना करें तो हमें शर्म से सिर झुकाना पड़ेगा। दरिद्र, दुर्भिक्षग्रस्त बंगाल का साहित्यिक ऐश्वर्य देखकर हम दाँतों तले अँगुली दबाये बिना नहीं रहेंगे।···इस फाकेमस्ती के जमाने में भी सिर्फ रवीन्द्र-साहित्य की बिक्री से साल-भर में तीन लाख रुपये की आमदनी हुई जब कि पिछले साल सिर्फ साठ हजार की बिक्री हुई थी।···बँगला-साहित्य को कहानियों और कविताओं का एक विराट् मेला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। उत्कृष्ट उपन्यासों की संख्या यद्यपि अँगुली पर गिनी जा सकती है, फिर भी वे हिन्दी उपन्यासों की तुलना में कहीं अधिक हैं।" ऐसी ही एक बात 'सरस्वती' (अप्रैल) के पूर्वोक्त लेख में भी है—"मराठी का उपन्यास-क्षेत्र अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तुलना में अधिक समृद्ध मिलता है।" फिर 'हंस' के उक्त अंक में ही 'आधुनिक मराठी साहित्य' का परिचय देते हुए प्रसिद्ध हिन्दीलेखक प्रोफेसर माचवे ने भी 'मराठी कादम्बर्या' से एक उद्धरण दिया है—"कहते हैं कि बंगाली-हिन्दी कथा-वाङ्मय मराठी से बढ़ाचढ़ा हुआ है। परन्तु मराठी में अनूदित जो बंगाली या हिन्दी उपन्यास हैं, मराठी के उपन्यास उनसे किसी प्रकार कम हैं, यह नहीं कहा जा सकता।" इसी लेख की एक विशेष बात उल्लेखनीय है—"विशेषतः इतिहास और कोश में मराठी ने बहुत-कुछ कार्य किया है। पेशवा-दफ्तर के पुराने कागजात खोजकर उन्हें पुनः प्रकाशित और सम्पादित करने का श्रेय महाराष्ट्र को है। महाराष्ट्र ज्ञानकोश (विश्वकोश), फारसी-मराठी-कोश,

व्यायामज्ञानकोश, मानवशास्त्रीय परिभाषा-कोश, लोकोक्ति-कोष आदि उल्लेखनीय हैं।" प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख (नवीन हिन्दी-कहानी) समीक्षात्मक है और नये कहानी-लेखकों के मनन करने योग्य है। अन्य उपयोगी लेख हैं—नाटकशालाओं की-आवश्यकता (श्रीवृन्दावनलाल वर्मा), 'रंगभूमि' पर एक नई दृष्टि, उपन्यास में ऐतिहासिकता, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र (प्रो० नलिनविलोचन शर्मा)। श्रीरामशेरसिंह के लेख (मूक नहीं यह पत्थर) की भाषाशैली और वर्णनभंगी बहुत अच्छी है। छपाई की शुद्धता और स्वच्छता पर सम्पादकजी को ध्यान देना चाहिए। अनावश्यक रिक्त स्थान छोड़ने से कागज का दुरुपयोग तो होता ही है, पाठकों का हक भी मारा जाता है। कविताओं में श्री त्रिलोचनजी का 'स्वागत' सर्वोत्तम है। रमई काका के 'कारे घन' भी सरस हैं। बाकी सब दुरूह, निरर्थक और फालतू हैं। हिन्दीपाठकों पर निरंकुश पत्रकारों के निष्करुण कृपाण का प्रहार इस युग के स्वेच्छाचारों में गिना जायगा। 'माधुरी' (लखनऊ) का गद्यभाग और पद्यभाग दोनों सुसम्पादित और सार्थक होता है। अप्रैल के अङ्क में लेख-चयन मनोहर है—सन्त कबीर पर आलोचनात्मक दृष्टि, ग्राम्यगीतों में इतिहास, कर्नाटक के दासपन्थी, आधुनिक कविसम्मेलन, सिन्धी भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध, एक भूला हुआ प्राचीन भ्रमरगीत, कृष्णकुमारी (ऐतिहासिक एकांकी), पार्टी-सम्मेलन, प्रकाशक-संघ-संगठन, भारतीय साहित्य में सन्तसाहित्य का वैलक्षण्य, सम्मानप्राप्ति के उपाय, कविता का स्वरूप (सम्पादकीय)। इस अन्तिम टिप्पणी की ये कुछ पंक्तियाँ समझदारों के काम की हैं—"कविता दो वस्तुओं से बनती है। एक मनोभाव या अनुभूति और दूसरी सुकुमार छन्दोबद्ध भाषा में उसका रूपग्रहण। अनुभूति या भाव उसका आधेय है और छन्दोबद्ध भाषा उसका आधार; अनुभूति या भाव कविता का प्राण है और छन्दोबद्ध भाषा उसका स्वरूप। इनमें जो सम्बन्ध है वह प्राण और देह के सम्बन्ध की तरह ही अविच्छेद्य है। आदर्श सुन्दर कविता की रचना के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। जो कवि इस नियम को मानकर कविता लिखते हैं उनकी कविता भाव और भाषा से सर्वाङ्गसुन्दर होती है।" किन्तु इस युग में नियम की पाबन्दी तो निन्द्य और पाखंड है! मई के अंक में भी मनोरम लेख हैं—ग्वालियर का तोमर-वंश और उसकी कला, जायसी का विरहवर्णन, परिहासविजल्पितम् (कवियों का दंगल), युगप्रवर्त्तक कबीर, कालिदास की एक महत्ता, प्रसादजी की कुछ सूक्तियाँ (स्कन्दगुप्त से), कालिदास का दुष्यन्त, छायावादी कवि और उनकी कविता। सम्पादकीय टिप्पणी एक ही है आठ पृष्ठों की—'कठ उपनिषद् का रहस्य'। श्री चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका' की बैसवाड़ी बोली में 'धरती हमारि' कविता बड़ी प्यारी और स्वाभाविक है। मुखपृष्ठ पर श्रीनिशंक जी की कविता (नयनों में प्यार तुम्हारा है) अति मनोज्ञ है। जब की 'विश्ववाणी' (प्रयाग) में आरम्भ के दो लेख दिलचस्प

जानकारियों से भरे हुए हैं—'असुरिया की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति' (पं० सुन्दर लाल जी) और 'मैक्सिको का सामाजिक जीवन'। चौथा लेख भी वैसा ही है—'मध्य-कालीन भारत में हिन्दू-मुसलिम समस्या'। इसमें पंडितराज का प्रसिद्ध श्लोक 'दिल्लीश्वरो वा' अशुद्ध छपा है। तीसरा छात्रोपयोगी है—'मैथिलीशरण गुप्त में आदर्श नारी की भावना'। एक लेख 'अहम्' खूब मनन करने योग्य है। कविताओं में श्री उपेन्द्र की 'बँध न सकी उन्मत्त जवानी' ही अच्छी है। सम्पादकीय स्तम्भ में 'काश्मीर' पर एक टिप्पणी है। जून के 'कर्मयोगी' में भी है। दोनों पढ़कर मन दुविधा में पड़ गया! कई मनोरंजक लेख 'कर्मयोगी' (प्रयाग) में भी हैं—हिन्दी-साहित्य में शकुनविचार (डा० 'रसाल'), पुरुवंश का इतिहास (मिश्रबन्धु), प्रेम-रहस्य आदि। मद्रास के नेता श्री राजा जी की एक कहानी (पश्चात्ताप) का आधार अशोक-वनवासिनी सीता का स्वप्न है। रामायण की पुरानी कथा होने पर भी कल्पना और सूझ के बल पर कहानी अच्छी उतरी है। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ शिक्षाप्रद हैं—"कहा जाता है कि हनुमान अमर हैं। सीता के दुःखों को हरने के लिए जिस प्रकार वह अशोक-वाटिका में पहुँच गया था उसी प्रकार, राम का नाम लेने पर, हमारे दुःखों को हलका करने के लिए भी, विश्वास कीजिए, वह निश्चय ही आएगा।" इस अंक का महत्त्वपूर्ण लेख 'चीन का जनसाहित्य' है। उसका संक्षिप्त आशय इन्हीं पंक्तियों में है—"संघर्ष से भरपूर गत सात-आठ वर्षों में जो चीनी साहित्य तैयार हुआ है उसमें दो बातें प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं—कलाकार ने जनता से सम्पर्क स्थापित कर जनता का आदमी बनना सीख लिया है और स्वयं जनता ने भी अपने कलाकारों को उत्पन्न करना शुरू कर दिया है।" कविताओं में 'अमर सुभाष' और 'हुमायूँ' सिर्फ पढ़ लेने लायक हैं। उर्दू के शेरों में चुहल के सिवा कोई खास बात नहीं। 'गाँव' के सिवा और किसी उर्दू-कविता में शब्दार्थ भी नहीं हैं, अतः अधिकांश हिन्दीपाठक समझ न सकेंगे। 'कविसम्मेलन' बहुत भोंड़ी कविता है, अशिष्टतापूर्ण भी है। 'कविता-टाँग-तोड़क' जी की रचना 'भगवान शंकर' भी वैसी ही है। कर्मयोगी अपने नाम के गौरव पर ध्यान रखता तो अच्छा होता। उसमें इतना अधिक हलकापन नहीं सोहता। उसके व्यंग्यविनोदों में भाषा और भाव का चमत्कार बहुत कम है। इन्दौर की 'वीणा' इधर कुछ ढीली हो गई है। उसके मई-जून के अंकों में सुसम्पादित और सुमुद्रित रचनाओं की कमी है। मई-नम्बर की पहली कविता 'भारती' के भाव भव्य हैं। 'अनुभूति' भी कोमल है। 'स्वदेशार्थ अभ्यर्थना' में कई दुष्प्रयोग हैं। सम्पादकजी की ज्योतिष-विषयक कविताएँ क्लिष्ट कल्पना मात्र हैं। 'वैशाखनन्दन' तो यथानाम-तथागुण है। जटिलता की काल-कोठरी में कविता की जान निकल जाती है। दोनों में बस तीन ही अच्छे हैं—गाँव के गीत, प्रसाद के गीतों में राष्ट्रीयता, कविता

का विश्लेषण। प्रो० लालजीराम शुक्ल का लेख 'इच्छाशक्ति' दोनों अंकों में आधा-आधा छपा है और वही सर्वोत्तम तथा सर्वोपयोगी है। सम्पादकीय स्तम्भ में 'मानव-शरीर से काव्य की तुलना' की गई है। 'छन्दज्ञान' पर भी एक टिप्पणी है। हिन्दीपाठकों को उससे कोई लाभ न होगा। इस विषय की छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें काफी प्रचलित हैं। फिर पिष्टपेषण क्यों ? 'इन्दौर की साहित्यिक जाग्रति' (?) उपादेय टिप्पणी है। गत आधी शताब्दी में इन्दौर-राज्य के अन्दर जो पत्र-पत्रिकाएँ निकली हैं उनका इसमें संक्षिप्त उल्लेख है। किन्तु खरगोन की 'वाणी' का नाम छूट गया है, वह एक अच्छी पत्रिका थी। जून-नम्बर की पहली कविता 'माया' में मधुर भावनाएँ तो हैं; पर कई पंक्तियाँ मन्द हैं। 'स्तरित' चिन्त्य प्रयोग है। भला यह 'कर्णकर्करी' क्या बला है? 'सान्ध्यतारा' कविता में तो केवल एक ही पंक्ति सुन्दर है—'किन्तु अब भी टिमटिमाता तिमिर का अभिषेक!' इसके रचयिता का नाम (शरदेन्दु) ही गलत है। 'निशा के मौनमय उद्रेक' और 'प्रात छिपता सान्ध्य हँसता' भी अशुद्ध है। अन्य कविताओं में भी छपाई और भाषा-भाव की भूलें हैं। एक 'चित्रनाट्य' (स्नेहश्रुति) में अँगरेजी के अनेक शब्द अँगरेजी अक्षरों में ही पचास बार छपे हैं जिनका अर्थ कम से कम साठ फी सदी हिन्दीपाठक ठीक-ठीक नहीं समझेंगे। मगर चीज अच्छी है। सम्पादकजी की ज्योतिष-विषयक कविताओं ने इस अंक का भी पीछा किया है, शायद वे साल-भर पत्रिका का पिण्ड न छोड़ेंगी! इस अंक में भी चार ही लेख पढ़ने योग्य हैं—गाँव के गीत, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद (प्रो० कन्हैयालाल सहल), 'आँसू' के अध्ययन का एक नवीन दृष्टिकोण, समाज और साहित्य (प्रो० कमलाकान्त पाठक)। एक लेख कविवर 'सिरस' जी का है—हिन्दीकाव्यरचना में धींगाधींगी। उसमें कही गई कई बातें यथार्थ हैं, पर उन्हें आजकल सुनेगा कौन? इस अंक से 'शिशुसंसार' नामक एक नये स्तम्भ का श्रीगणेश हुआ है। इसमें गोरखपुर जिले के एक बालक ने भोजपुरी भाषा में एक प्रसिद्ध देहाती कहानी लिखी है—'कउवा और गवरइया की मिताई'। जनपदी बोलियों में ऐसी-ऐसी कहानियों का संग्रह होता चले तो भाषातत्त्वज्ञों को कुछ न कुछ लाभ ही होगा। सम्पादकीय स्तम्भ में पहली टिप्पणी 'काव्य और अलंकार' है जिसमें पाठकों के काम की कोई खास बात नहीं, बस वही चर्वितचर्वण! हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी दूसरी टिप्पणी में लिखा है—"बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्रति उदार होकर ही उसकी जिद से अपनी रक्षा कर सकता है। शायद अपने ऐसे ही सिद्धान्त के कारण महात्माजी ने शब्द-मिश्रण में फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्दों का अनुपात ७५ और २५ प्रतिशत के लगभग रखा है। छोटे भाई के लिए एक रिआयत और दिखाई पड़ती है। कठिन प्रतीत होनेवाले संस्कृत-शब्दों का अर्थ कोष्ठक में फारसी-अरबी शब्दों में दे दिया गया है। किन्तु उसी प्रकार का

खयाल बड़े भाई के लिए अनावश्यक समझा गया; आखिर वह बड़ा जो है, कोश देखे !!" फिर तीसरी टिप्पणी (लखनऊ-विश्वविद्यालय का हिन्दुस्तानी माध्यम) में ये आशाप्रद पंक्तियाँ दीख पड़ी—"अब तो इस विषय में हिन्दूविश्वविद्यालय को आगे आकर प्रमुख स्थान ग्रहण करना चाहिए। साथ ही हिन्दी-माध्यम द्वारा उच्च-शिक्षणप्रसार का विचार रखनेवाली 'हिन्दी-यूनिवर्सिटी इन्दौर' और 'खिन्विया-विश्व-विद्यालय'-जैसी गर्भगत संस्थाओं को भी प्रगट होना चाहिए। जयपुर को केन्द्र बनाकर राजपूताना-विश्वविद्यालय तो कदाचित् शीघ्र प्रत्यक्ष हुआ चाहता है।" इन्दौर से ही (ज्ञानमंदिर, भानपुरा से) गत अप्रैल में 'जीवनविज्ञान' निकला है। इसके सम्पादक श्रीचन्द्रराज भंडारी हैं। आवरणपृष्ठ पर ग्यारह विषयों की तालिका दी गई है—नारीसमस्या, वनस्पतिविज्ञान, चिकित्सा, आरोग्य, साहित्य, संस्कृति, शासन, कृषि, शिक्षा, धर्म, कला। इससे यह सूचित किया गया है कि इन विषयों पर लेख छपा करेंगे। मुखपृष्ठ पर तो यहाँ तक लिखा है कि 'जीवनोपयोगी सर्वाङ्गीण साहित्य का समग्र भारत में पहला मासिक पत्र' यही है। वार्षिक मूल्य १०) और एक अंक का १) है। पृष्ठसंख्या ६८ और छपाई साफ है। आरम्भ के पाँच पन्नों में बड़े-बड़े लोगों के सन्देश छपे हैं। उनमें से कुछ के चित्र भी उनकी शुभकामना के साथ ही छपे हैं। जितने विषयों का संकेत आवरण पर प्रमुखता के साथ किया गया है, लगभग उतने ही विषयों के लेखों का संग्रह और प्रकाशन भी। अधिकतर लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं। कुल तेरह स्तम्भ हैं। अन्तिम में देश-विदेश का 'मासिक घटनाचक्र' है। प्रथम में सम्पादकीय लेख है—'महायुद्ध की उत्तर भूमिका' और द्वितीय स्तम्भ (वर्त्तमान दुनिया और उसकी गतिविधि) में एक लेख है—'विश्व-सुरक्षा-कौन्सिल और विश्वशान्ति'। आरम्भ के इन दोनों लेखों में भाषा और छपाई की अनेक अशुद्धियाँ हैं। खेद है कि यहाँ सबके दिग्दर्शन का स्थान नहीं, पर ध्यान से पढ़नेवाले सज्जन सहसा समझ ले सकते हैं। यहाँ तक कि संयुक्त और समस्त शब्द कहीं भी एक साथ मिलाकर नहीं छापे गये हैं जो बहुत खटकते हैं। कई वाक्यों की रचना भी विचित्र ढंग की है। एक छोटा-सा उदाहरण—"हारी हुई जातियाँ तो खतम हो चुकीं मगर जीती हुई जातियों के सामने कर्त्तव्य का एक भारी पहाड़ खड़ा हुआ है जिसे उनको बुद्धिमानीपूर्वक पार करना है।" यदि सम्पादन पर पूरा ध्यान रखा जायगा तो पत्रिका निस्संदेह सुन्दर और लोकोपयोगी होगी। कलकत्ता का 'विश्वमित्र' अपने नाम की सार्थकता पर ध्यान रखता है। विश्वभूमण्डल की वर्त्तमान समस्याओं और घटनाओं पर उसकी दृष्टि बनी रहती है। न जाने क्यों उसने चन्द्रविन्दु को सदा के लिए अर्द्धचन्द्र दे दिया है जिससे शब्दों की स्वाभाविक ध्वनि को धक्का पहुँचता है। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों और प्रश्नों पर उसके लेख बड़े ज्ञानवर्द्धक होते हैं। अप्रैल के अंक

में राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक लेख अच्छे हैं। मुखपृष्ठ पर कविवर बच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' कविता है। भाषा-भाव की सफाई और मधुर सुकुमारता बच्चनजी की रचनाओं की विशेषता है। वह पाठक के हृदय को बड़े कौशल से पकड़कर प्यार से सहलाते हैं। कई पत्र-पत्रिकाओं में उनकी 'मिलनयामिनी' चाँदनी छिटकाती नजर आती है। ईश्वर से प्रार्थना है कि कवि की इस 'मिलनयामिनी' का कभी विहान न हो। अन्य कविताओं में श्रीशीतला सहायजी का 'गीत', श्रीशिवमूर्त्ति मिश्रजी की 'कल्पना क्या', श्रीघनश्याम अस्थाना की 'कोई मेरा मूल्य न आँके' और श्री कमल जी की 'तुम आये—अब मैं दीप जलाऊँ' हमें ज्यादा पसन्द आईं। इनमें कवि की वाणी हृदयङ्गम करके पाठक तत्क्षण कवि के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। 'तुम्हारा उपहार' रवि बाबू की गीतांजलि के बावनवें गीत का अनुवाद है, इसलिए भाव तो सुन्दर होना ही चाहिए, पर भाषा कामचलाऊ है। 'शैया' और 'शैय्या' शब्द बहुत कसकते हैं। अब लेख देखिए—युद्ध के खतरों के बीच समाचार-संकलन के रोमांचक अनुभव (सचित्र), प्रवासी की आत्मकथा (स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी), जेलजीवन के अनुभव, प्रगतिवाद में अराजकता तथा श्लील-अश्लील का प्रश्न, गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान 'सोरों' पर विचार (श्रीभगीरथप्रसाद दीक्षित), महमूद और भारत के लूट की कहानी (श्रीभगवतीप्रसाद पान्थरी), बच्चों की शिक्षा और मनोवृत्तियाँ (सचित्र), भोजपुरी ग्रामगीतों की मार्मिकता। पान्थरीजी के ऐतिहासिक लेखों में प्रामाणिकता के साथ-साथ मनोरञ्जकता भी यथेष्ट होती है। 'समाधान' (पद्यनाटिका) की भाषा कहीं-कहीं कवित्वमयी है; पर लंबाड़ वाक्यों के कारण बहुत क्लिष्ट और गूढ़ार्थ भी बन गई है। आखिर पद्यनाटिका ही तो है! मगर कुछ सूक्तियाँ बड़ी मीठी अनूठी हैं। चयनिका, अर्थचक्र, समाजदर्पण, महिलासंसार, अन्तर्राष्ट्रीय, साहित्य-जगत् आदि स्थायी स्तम्भों में पाठकों को रमानेवाली प्रचुर सामग्री रहती है। दिल्ली का 'आजकल' तो हिन्दी-पाठकों को आकृष्ट करने में इस समय अद्वितीय हो रहा है। उसका 'वार्षिक अंक' उसके दूसरे वर्ष के आरम्भ (मई) में निकला है। उसमें बढ़िया चुनिन्दा लेखों का अच्छा जमघट है। अधिकांश लेख सचित्र ही हैं। संस्कृत के विदेशी विद्वान्, भारत और तिब्बत के सांस्कृतिक सम्बन्ध, मुगलकाल में हिन्दू-मुस्लिम व्यवहार और त्योहार (श्रीजङ्गबहादुर सिंह), अलंकृतकाल-रीतिकाल या शृङ्गारकाल (प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), सुमित्रानन्दन पन्त (श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त), युद्धकालीन हिन्दीसाहित्य (श्रीकान्तिचन्द्र सौनरेक्सा), स्याम में भारतीय, ब्रिटेन के समाचारपत्र, चार भाषाओं का राष्ट्र स्विट्जरलैण्ड इत्यादि लेख अत्यन्त आकर्षक हैं। डॉक्टर रामकुमार वर्मा का एकांकी (कलाकार का सत्य) अपने नाम की सार्थकता में सर्वाङ्गपूर्ण है। इसका अन्तिम अंश पढ़कर चित्त भक्तिगद्गद् हो उठा। निराशा के अंधकार में आशा की

दिव्य ज्योति जगानेवाला यह एकांकी उन सभी कलाकारों को पढ़ना चाहिए जो अपनी कृतियों के द्रुत प्रकाशन के लिए विह्वल रहा करते हैं। उन्हें यह आत्मविश्वास का अमर सन्देश देगा। इसकी भाषा, शैली, व्यंजना, कल्पना, सबमें कवित्व का माधुर्य ओतप्रोत है। जैसे थाल में सजे सरस व्यंजन 'तुलसी'-दल पड़ने से महाप्रसाद बनकर विशेष तृप्तिकर हो जाते हैं वैसे ही भाषा-भाव की मधुरिमा में कवि-कल्पना के मिश्रण से यह चमत्कारपूर्ण हो गया है। भाषा-भाव की रमणीयता के खयाल से तीन लेख हमें और पसन्द आये—आचार्य चतुरसेन शास्त्री की कहानी (नवाब ननकू), नदी की आत्मकहानी (श्रीकामताप्रसादसिंह), लोहार और तलवार (पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी')। प्रो० प्रभाकर माचवे का 'मुँह' बड़ा सुन्दर है। मुहावरे की बन्दिश उसकी बाँकी चितवन है। चुहलबाजी उसकी मन्द मुस्कान है। वर्णनवक्रता उसकी भ्रू भङ्गिमा है। फिर और चाहिए ही क्या ? कविताओं में दो ने प्रमुखता पाई है और वास्तव में वे ही इसकी अधिकारिणी भी हैं। दुरंगे मुखपृष्ठ पर श्रीउदयशंकर भट्ट की कविता (परिवर्तन) मनोहरता से सजाई गई है। वह आजकल की दुनिया की बोलती तस्वीर है। संसार का एक शाश्वत चित्र भी उसमें है। उसमें 'लोहू' का प्रयोग अच्छा न लगा। श्रीबच्चनजी की 'मिलन-यामिनी' तो बड़ी भावुकता से सचित्र पृष्ठ पर सजाई गई है। भावपूर्ण चित्र ने कविता-रानी को स्वर्णसिंहासन पर बिठा दिया है। इसी शीर्षक में यत्रतत्र प्रकाशित कई कविताओं से यह हमें अधिक मनभावनी लगी। अंचलजी की 'नवागता', पालीवालजी की 'प्रेरणा', चिरंजीत जी की 'चिलमन' और विद्यावती जी की 'शुभ मिलन' कविताएँ उमंग में भरकर कलेजे से लग जाती हैं। गीतों में सिर्फ दो ही अच्छे जँचे—श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा का और पं० हंसकुमार तिवारी का। पहले में चिरन्तन सत्य की झाँकी है, दूसरी में हृत्तन्त्री की झंकार। आरम्भ में 'वसंत' नामक एक तिरंगा चित्र है जिसमें दो श्यामगौरवर्णा पुष्पाभरणा प्रमदाओं की भावभङ्गिमा में कुशल कलाकार ने कुसुमाकर की कल्पना की है। ऐसे कला-मंडित विशेषाङ्क के लिए सम्पादक (श्रीअनन्त मराल शास्त्री) और उनके सहयोगियों को हार्दिक बधाई। दिल्ली की 'सरिता' का प्रत्येक अंक दो रंगों में कलापूर्ण ढंग से छपकर ठीक समय पर निकलता है। जुलाई का अंक जून में ही मिल गया। इसमें एक एकांकी, एक कविता, चार कहानियाँ और पाँच लेख हैं—समाज में पुरस्कारों का विभाजन (श्रीसम्पूर्णानन्द), हिन्दीपत्र और अश्लील विज्ञापन (श्रीविष्णुदत्त मिश्र तरंगी), नवजात शिशु के वस्त्र, संयुक्त परिवार अब समयानुकूल नहीं रहा, हिन्दु-मुस्लिम रेखा और रंग (श्रीजंगबहादुर सिंह) ! इसके स्थायी स्तम्भ 'चंचल छाया' में सिनेमा-फिल्मों की खरी समालोचना रहा करती है। अपनी सचित्र कहानियों और नियमितता के कारण यह बहुत लोकप्रिय हो गई है। कलकत्तिया 'विश्वमित्र' की तरह इसने भी चन्द्रबिन्दु की उपयोगिता अस्वीकृत कर दी है ! (शेष आगामी बार) —शिव